विषय-सूची

प्रश्न

१. भाषा-विज्ञान की परिभाषा दीजिए। यह क्या है अथवा विज्ञान ?

२. भाषा-विज्ञान और व्याकरण के सम्बन्ध की सम्यक् मीमांसा कीजिए। भाषा-विज्ञान से व्याकरण और साहित्य के अध्ययन और अध्यापन में कहाँ तक सहायता मिलती है, स्पष्ट कीजिए।

३. भाषा-विज्ञान के प्रमुख अंगों का परिचय दीजिए तथा उनकी उपयोगिता का विवेचन कीजिए।

४. सिद्ध कीजिए, भाषा-विज्ञान की परम्परा बहुत प्राचीन काल से अविच्छिन्न चली आती है।

५. आधुनिक भाषा विज्ञान के आरम्भिक इतिहास का दिग्दर्शन कराइये।

६. भाषा की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न प्रचलित मतों का उल्लेख करते हुए, कारण सहित व्याख्या कीजिए कि कौन-सा मत अधिक तर्कसंगत है ?

७. 'एक भाषा-विज्ञानी के लिए साहित्यिक भाषा की अपेक्षा बोलियाँ अधिक महत्वपूर्ण हैं।' आलोचना करते हुए बोली, विभाषा, भाषा और राष्ट्रभाषा का अन्तर स्पष्ट कीजिये।

८. भाषा परिवर्तनशील क्यों कही जाती है। परिवर्तन के मुख्य-मुख्य कारणों की विवेचना उदाहरण सहित कीजिए।

अथवा

भाषा के बाह्य तथा आभ्यन्तर रूप में विकास और परिवर्तन के कारणों पर प्रकाश डालिए।

९. दो भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध को निर्धारण करने के प्रमुख तत्वों का उल्लेख करते हुए भाषा-विभाजन की पद्धतियों के गुण-दोषों का विवेचन कीजिए।

कीजिए। उस वर्गीकरण की उपयोगिता पर भी प्रकाश डालिए [illegible]

११. भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण किन सिद्धान्तों के आधार, ४८
पर किया जाता है। प्रत्येक वर्ग का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

१२. भारोपीय (आर्य) मनुष्यों के मूल निवास स्थान के सम्बन्ध ५४
में विभिन्न मतों पर प्रकाश डालिए।

१३. रूप-परिवर्तन या भाषा के शब्द-समूह में परिवर्तन किस प्रकार ६०
होता है और उस परिवर्तन के मुख्य कारण क्या माने जाते हैं ?

१४. बौद्धिक-नियमों का परिचय दीजिए। ६४

१५. अर्थ परिवर्तन की दिशाओं के आधार का उल्लेख कीजिए। ६८
उपयुक्त उदाहरण भी दीजिए।

१६. शब्दार्थ में परिवर्तन होने के मुख्य कारण क्या हैं ? उपयुक्त ७३
उदाहरण देकर अपने उत्तर की पुष्टि कीजिए।

१७ संस्कृत ध्वनि-समूह का वर्गीकृत परिचय देकर यह बताइये ७८
कि हिन्दी ध्वनि-समूह से उसकी तुलना में क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं ?

अथवा

हिन्दी ध्वनियों के विकास पर एक लेख लिखिये।

१८. ध्वनि-वर्गीकरण के मुख्य सिद्धान्त क्या माने जाते हैं ? यह ८३
बतलाते हुए ध्वनियों का वर्गीकरण कीजिए।

१९. ध्वनि-परिवर्तन के रूप (दशाएं) और कारणों की सोदाहरण ८९
विवेचना कीजिए। अथवा

'ध्वनि प्रयत्न-लाघव की दशा में परिवर्तित होती है।' इस कथन को स्पष्ट कीजिए।

२०. ध्वनि-नियम क्या हैं ? ग्रिम कृत ध्वनि-नियम (Grim's ९९
Law) की सम्यक् समीक्षा कीजिए। क्या ध्वनि-नियम भी उसी प्रकार अपवाद्य हैं जैसे अन्य वैज्ञानिक नियम ?

२१. ग्रासमैन और वर्नर के ग्रिम-नियम-संशोधन पर दृष्टि डालते १०८
हुए अन्य ध्वनि-नियमों का विवेचन कीजिए।

२२. भारोपीय-परिवार की विशेषताओं और महत्व पर प्रकाश १११
डालते हुए उसके विभाजन का भी परिचय दीजिए।

२३. भारतीय आर्य-भाषाओं पर अन्य भाषाओं का क्या प्रभाव पड़ा है ? इसको स्पष्ट करते हुए बताइए कि भारत में किन परिवारों की भाषाएँ बोली जाती है। ११७

२४. मूल (आदिम) भारोपीय भाषा की संस्कृत भाषा के साथ तुलना करते हुए उसकी अक्षरमाला, ध्वनियों और उदासीन स्वर (Neutral Vowel) की कल्पना पर प्रकाश डालिए। १२१

२५. अवेस्ता, वैदिक और लौकिक संस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कीजिए। १२५

२६. 'संस्कृत प्राकृत भाषाओं की जननी है।' इस कथन का युक्तियुक्त उत्तर दीजिए। १३१

२७. डा० ग्रियर्सन के भारतीय आर्य-भाषाओं के वर्गीकरण के औचित्य पर विचार प्रकट करते हुए विभिन्न विद्वानों द्वारा किये गये वर्गीकरण पर प्रकाश डालिये। १३८

२८. भारत की प्राचीन भाषाओं का तारतम्य दिखाते हुए हिन्दी के विकास पर प्रकाश डालिये। १४३

अथवा

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति के क्रमिक इतिहास का स्पष्ट दिग्दर्शन कराइये।

२९. हिन्दी भाषा की मुख्य बोलियों के साम्य-वैषम्य पर प्रकाश डालिए। १४७

३०. हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के अन्तर को स्पष्ट करते हुए उनके सामंजस्य की आवश्यकता पर प्रकाश डालिये। १५०

३१. ऐतिहासिक उद्गम की दृष्टि से हिन्दी शब्द-समूह किन मुख्य वर्गों में विभक्त किया जाता है ? हिन्दी में प्रयुक्त अंग्रेजी शब्दों में होने वाले ध्वनि-परिवर्तनों के मुख्य सिद्धान्त भी उदाहरण सहित दीजिये। १५३

३२. भिन्न-भिन्न अन्तवाली हिन्दी संज्ञाओं के मूल रूप (Direct of Nominative Form) तथा विकृत रूप (Oblique Form) दीजिए तथा उन रूपों की व्युत्पत्ति पर एक टिप्पणी लिखिये। १५७

३३. हिन्दी तथा संस्कृत संज्ञा की कारक-रचना के मूल सिद्धान्तों में क्या अन्तर हो गया है ? तर्कपूर्ण उत्तर दीजिए। १६३

३४. हिन्दी सर्वनामों के रूप देकर उनकी व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालिये। १६६

३५. हिन्दी क्रिया के कालों में संस्कृत कालों के कौन से रूप अवशेष रह गये हैं ? दोनों का सम्बन्ध स्थापित कीजिये। १७१

अथवा

हिन्दी क्रियाओं की व्युत्पत्ति बताइये।

३६. हिन्दी क्रिया की काल-रचना में कृदन्तों के महत्व का विवेचन कीजिये। १७७

३७. सम्भावनावाचक विशेषणों की व्युत्पत्ति स्पष्ट कीजिये। १८०

३८. हिन्दी भाषा के कुछ प्रमुख शब्दों की व्युत्पत्ति बताइये। १८४

३९. हिन्दी के उपसर्गों का संक्षिप्त परिचय दीजिये। १८८

४०. स्वराघात का भेदों सहित विवेचन करते हुए हिन्दी में उसकी विकसित स्थिति पर प्रकाश डालिए। १८९

४१. हिन्दी-भाषा की वैज्ञानिक परिभाषा दीजिये तथा उसके साहित्यिक रूप पर दृष्टि डालते हुए खड़ी बोली की उत्पत्ति और विकास पर एक लघु लेख लिखिये। १९१

४२. दक्खिनी भाषा के विकास और साहित्य का परिचय देते हुए खड़ी बोली से उसका सम्बन्ध बताइये। १९७

४३. देवनागरी के उद्गम और विकास पर एक लेख लिखिए तथा उसके गुण और दोषों का विवेचन करते हुए कुछ सुधारात्मक सुझाव प्रस्तुत कीजिये। २०१

परिशिष्ट

प्रश्न पृष्ठ

४४. स्पष्ट कीजिए— २०७

(क) भाषा की परिभाषा, (ख) भाषा अर्जित सम्पत्ति है, (ग) भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाती है, (घ) भाषा-चक्र, (ङ) भाषा की सामान्य प्रवृत्तियाँ (संकेत रूप में)।

४५. भाषा-विज्ञान से अन्य विषयों का सम्बन्ध स्थापित कीजिए। २१०

४६. वाक्यों के प्रकार और वाक्य-गठन में परिवर्तन के कारण कीजिये। २१४

४७. स्पष्ट कीजिये—

(क) ध्वनियन्त्र, (ख) भाषण-ध्वनि और ध्वनिमात्र का अन्तर, (ग) क्लिक (Click) ध्वनियाँ, (घ) संकेत ग्रह। २१६

४८. ध्वनि-नियमों के विरुद्ध सादृश्य का क्या अर्थ है ? उसके प्रभाव और विस्तार की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए। २२०

४९. 'यूरोप में संस्कृत की खोज ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की नींव डाली।' समीक्षा कीजिए। २२२

५०. मूल भारोपीय भाषाओं और संस्कृत में अपश्रुति (Vowel gradation) की स्थिति पर तर्क उपस्थित कीजिए। २२४

अथवा

अपश्रुति या स्वरक्रम (Ablaut) पर संस्कृत का सन्दर्भ देते हुए एक लेख लिखिये। क्या पाणिनि की गुण-वृद्धि और सम्प्रसारण भाषा-वेत्ताओं की दृष्टि से उचित है ?

५१. परिचयात्मक टिप्पणियाँ लिखिये—

बान्टू भाषा, द्रविड़ भाषा, मुंडा भाषाएँ, स्लाव भाषाएँ, पैशाची, अपभ्रंश, लहँदा, बिहारी भाषा, मध्य-पहाड़ी, उच्च हिन्दी, रेख्ता, सर विलियम जोन्स, याँकोब ग्रिम, फ्रान्स बॉप, रुडल्फ रॉथ, फ्रेड्रिख मैक्समूलर, जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी, शौरसेनी, शतम् तथा केन्टुम् समुदाय, हरियानी, छत्तीसगढ़ी, उर्दू, दक्खिनी, हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुस्तानी, ब्रज, अवधी, खड़ी बोली, यास्क, पाणिनि, कात्यायन। २२७

५२. हिन्दी के राष्ट्र-भाषा, राजभाषा, साहित्यिक भाषा तथा मातृ-भाषा के पहलुओं पर एक संक्षिप्त तुलनात्मक टिप्पणी लिखिये। २३३

५३. टिप्पणी लिखिए—

अभिश्रुति स्फुटवाक्य (Articulate speech), मूर्द्धन्यीकरण (cerebralisation), व्युत्पत्ति-शास्त्र के नियम, भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज (Linguistic-Palaeontology), वेदों में प्राकृत-तत्व, आदिम भारोपीय भाषा के स्वर, चित्र-लिपि, ब्राह्मी लिपि, प्रत्यय, विभक्ति, नाद, स्वांस, तालव्य-नियम, अर्थ-विज्ञान, उच्चारण-अवयव, ध्वनि-ग्राम, स्वर-भक्ति तथा आगम।

प्रश्न १—भाषा-विज्ञान की परिभाषा दीजिए। यह कला है अथवा विज्ञान ?

भाषा-विज्ञान

भाषा विज्ञान दो शब्दों से निर्मित है—भाषा और विज्ञान। भाषा मनुष्य के परस्पर विचार-विनिमय का साधन है। मानव अपने वागिन्द्रिय ध्वनि-यन्त्रों का प्रयोग कर उनसे कई प्रकार की ध्वनियों का उच्चारण कर उनके द्वारा अपने भावों तथा विचारों का प्रकाशन करता है। यह विचार-विनिमय और भाव-प्रकाशन प्रायः ध्वन्यात्मक रूप में होता है। विज्ञान का अर्थ शास्त्रीय ज्ञान तथा अध्ययन है। विज्ञान का कार्य किसी वस्तु का सम्यक् परीक्षण करना, सिद्धान्त निर्धारित करना तथा कारणों का पूर्ण समाधान करना है। भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करना भाषा-विज्ञान का प्रमुख कार्य है। भाषा-विज्ञान या भाषा-शास्त्र मानव-भाषा के समस्त रूपों, चाहे वे सभ्य या असभ्य जातियों के द्वारा प्रयुक्त होते हों, विकसित या अविकसित स्थिति में हों, उन सबका सम्यक् विवेचन करता है। एक भाषा-वैज्ञानिक किसी भाषा का अध्ययन उसे भाव-व्यंजना का साधन मानकर करता है। वह एक ओर प्रागैतिहासिक काल की भाषा का अध्ययन करता है; दूसरी ओर प्राचीन भाषाओं, देशी प्राकृत रूपों तथा आधुनिक प्रचलित भाषाओं एवं विभाषाओं का अध्ययन करता है।

भाषा-विज्ञान का अध्ययन करने की प्रायः तीन प्रणालियां पाई जाती हैं—

१. वर्णनात्मक या विवरणात्मक प्रणाली।

२. ऐतिहासिक प्रणाली।

३. तुलनात्मक प्रणाली।

विवरणात्मक प्रणाली में प्रायः जीवित भाषाओं का ही अध्ययन होता है, प्राचीन भाषा भी इस क्षेत्र में आ सकती है। इस पद्धति के अन्तर्गत किसी

निश्चित काल में किसी भाषा में कौन-कौन सी ध्वनियां थी (या हैं), उनकी प्राकृतिक प्रवृत्तियां क्या थीं, किस प्रकार के रूपों का प्रयोग होता था, उनकी पद-रचना तथा वाक्य-गठन की क्या परिपाटी थी, आदि का समीक्षात्मक परिचय उपस्थित किया जाता है। भाषा-विज्ञान के विद्वान् इस प्रणाली में भाषा के ध्वनि, रूप, वाक्य तथा संघटना का ही अध्ययन करते हैं।

भाषा-विज्ञान के अध्ययन की दूसरी रीति ऐतिहासिक है। किसी भाषा का ऐतिहासिक अध्ययन करते समय हम विवरणात्मक प्रणाली की सर्वथा अवहेलना नहीं कर सकते क्योंकि ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान एक प्रकार से किसी भाषा के विभिन्न कालों का विवरणात्मक अध्ययन का परिणाम है। कालानुसार भाषा में परिवर्तन या विकार होते रहते हैं। इस विकार के कारण या दशाएँ क्या हैं? परिस्थितियों के भाषा परिवर्तन में योग क्या है? ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान इन सभी प्रश्नों का समाधान उपस्थित करता है। इसमें भाषा के पूरे जीवन, उसके इतिहास और विकास पर ध्वनि, रूप आदि की दृष्टि से विचार किया जाता है।

तुलनात्मक प्रणाली भाषा-अध्ययन का तीसरा मार्ग है। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके कारण भाषा-विज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक हो गया है। इस प्रणाली में किसी भाषा के ऐतिहासिक तथा वर्णनात्मक दोनों पद्धतियों के अध्ययन को प्रस्तुत करते हुए सभी देशों एवं सभी वर्गों की भाषाओं का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया जाता है। उपर्युक्त दोनों पद्धतियों का समाहार तथा समन्वय इस तुलनात्मक पद्धति की विशेषता है। इसमें ऐतिहासिक या पद-रचना की दृष्टि से परस्पर सम्बन्धित दो या अधिक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। यही नहीं, विभिन्न प्रकृति की भाषाओं की तुलना भी इसके अन्तर्गत की जा सकती है। परन्तु अधिकांश तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग एक ही परिवार या वंश से सम्बद्ध भाषाओं की ध्वनियों, पद-रचना, शब्द-कोश तथा वाक्य रचना के साम्य और वैषम्य के अध्ययन के लिए किया जाता है। यह एक ही भाषा के परवर्ती रूपों के साथ तुलनात्मक दृष्टि से किया गया हो या अनेक भाषाओं के साथ। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश या हिन्दी, मराठी, बंगाली का तुलनात्मक अध्ययन एक कोटि का होगा, संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन का दूसरी कोटि का। ऐतिहासिक क्रम का ध्यान में

रखते हुये एक साथ अनेक भाषाओं की विकसित दशा का भी तुलनात्मक परिचय दिया जाता है।

भाषा-विज्ञान के अध्ययन के दो रूप हैं—एक तो भाषाओं का वर्णनात्मक, तुलनात्मक या ऐतिहासिक अध्ययन और दूसरे अध्ययन के आधार पर भाषा की उत्पत्ति, उसकी प्रारम्भिक अवस्था, उसके विकास तथा गठन के सम्बन्ध में सामान्य सिद्धान्तों का अध्ययन और निर्धारण। ये दोनों रूप एक दूसरे के सहायक हैं।

परिभाषा

डा० श्यामसुन्दरदास—भाषा-विज्ञान भाषा की उत्पत्ति, उसकी बनावट तथा उसके ह्रास की व्याख्या करता है।' —भाषा-रहस्य

'सच पूछा जाय तो बिना तुलना के अध्ययन वैज्ञानिक हो ही नहीं सकता, इसी तुलनात्मक भाषा-विज्ञान को ही भाषा-विज्ञान कहते हैं।'

—भाषा-विज्ञान

डा० मोलानाथ तिवारी—'भाषा-विज्ञान वह विज्ञान है जिसमें भाषा—विशिष्ट, कई और सामान्य का वर्णनात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन और तद्विषयक सिद्धांतों का निर्धारण किया गया हो।'

डा० गुणे—'किसी विशिष्ट परिवार के तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का ध्येय उस परिवार की भाषाओं की पारस्परिक समानताओं को ज्ञात करना तथा उन की व्याख्या करना है।'

भाषा-विज्ञान विज्ञान है या कला

जैसा कि भाषा-विज्ञान नाम से विदित होता है कि यह भाषा का विज्ञान है, कोई व्यक्ति सहज ही अनुमान कर सकता है कि यह अवश्य ही विशुद्ध रूप में विज्ञान है। परन्तु विज्ञान मे विशेष ज्ञान के अतिरिक्त कुछ अन्य विशेषतायें भी हैं। समुचित रूप में विज्ञान का कार्य किसी वस्तु का सम्यक् परीक्षण करना कारणों का पता लगाना तथा तुलना तथा प्रयोग के द्वारा सिद्धांत निश्चित करना है। ये नियम तथा सिद्धान्त सार्वभौमिक और सार्वकालिक होते हैं। उन में विकल्प तथा अपवाद के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं है। 'हवा गर्म होने से हल्की हो जाती है, आदि-आदि नियम शाश्वत तथा निश्चित हैं। परन्तु

भाषा-विज्ञान विज्ञान कहे जाने पर भी उसमें इस निश्चयात्मिका वृत्ति का अभाव है। ये नियम विज्ञान के नियमों की भाँति सर्वत्र प्रकाट्य नहीं हैं। भाषा-विज्ञान के नियमों में एकाधिक अपवाद भी मिलते हैं। भाषा परिवर्तन शील है; अतः कभी-कभी नियम-विरुद्ध नये शब्द और ध्वनियाँ भी देश काल और वातावरण के प्रभाव से आ जाती हैं। परिणाम-स्वरूप विज्ञान की भाँति इसके नियम सर्वत्र, सार्वकालिक और शाश्वत नहीं हैं। 'मर्म' और 'कर्म' रूप की दृष्टि से समान है, किन्तु एक का विकास 'मरम' के तथा दूसरे का 'काम' के रूप में हुआ है। यह विषम विकास शुद्ध वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। ऐसी परिस्थिति में हमें विकल्प और अनुमान पर आश्रित होना पड़ता है।

कला का एकमात्र लक्ष्य मनोरंजन तथा सौन्दर्य की सृष्टि करना है। सुन्दरता का उपासक अपनी तृप्ति के लिये कला की क्रोड़ में आसरा लेता है। परन्तु भाषा-विज्ञान का प्रधान कार्य इससे सर्वदा भिन्न है। वह न तो मनोरंजन का साधन है और न सुन्दर कृति ही है। दूसरे कला व्यक्ति की कृति है तो भाषा समाज की सम्पत्ति। दोनों में कोई साम्य नहीं। भाषा-विज्ञान विज्ञान के अधिक निकट है। विज्ञान की भाँति भाषा-विज्ञान भी सिद्धांत अथवा नियम निर्धारण से सम्बन्ध रखता है। जिस प्रकार विज्ञान में किसी वस्तु का सम्यक् परीक्षण करके उसके सम्बन्ध में नियम निर्धारित किये जाते हैं उसी प्रकार भाषा-विज्ञान में भी भाषा के उत्पत्ति, रचना, विकास आदि सभी तत्वों के विश्लेषण से सामान्य नियम निश्चत कर लिये जाते हैं। भाषा की सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत करना ही भाषा-विज्ञान का कार्य है।

इस प्रकार भाषा-विज्ञान भौतिक शास्त्र, गणित, रसायन शास्त्र की भाँति अपवाद-रहित तथा विकल्प-रहित ज्ञान न होते हुए भी कला नहीं कहा जा सकता है, अपितु, विज्ञान के सान्निध्य के कारण इसे विज्ञान कहना ही उचित है।

प्रश्न २—भाषा-विज्ञान और व्याकरण के सम्बन्ध की सम्यक् मीमांसा कीजिए। भाषा-विज्ञान से व्याकरण और साहित्य के अध्ययन और अध्यापन में कहाँ तक सहायता मिलती है, स्पष्ट कीजिए। (दि० वि० १९५१)

'व्याकरण' शब्द का प्रयोग भाषा-विज्ञान से प्राचीनतर है। व्याकरण का शब्दार्थ 'खंड-खंड करके' शुद्ध रूप प्रदर्शित करना है। भाषा तथा पद के शुद्धा-शुद्ध का विवेक व्याकरण ही कराता है। प्राचीन काल में प्रायः यह गई थी कि विद्वज्जन भाषा-विज्ञान तथा तुलनात्मक व्याकरण में नहीं समझते थे। इसमें दोनों की पारस्परिक समानता ही अभेद थी। परन्तु यथार्थतः इस साम्य की अपेक्षा दोनों में पर्याप्त अन्त समानता और अन्तर को नीचे स्पष्ट करते हैं।

समानता

(१) भाषा दोनों के मध्य की एक कड़ी है। भाषा की उत्पत्ति और विकास तथा ह्रास का विवेचन करना भाषा-विज्ञान का प्रमु व्याकरण भी भाषा के शुद्ध स्वरूप तथा उसकी बनावट पर प्रकाश भाषा के सम्यक् ज्ञान के लिये व्याकरण सीखा जाता है। उस ज्ञान की शांति के लिये भाषा-विज्ञान का अध्ययन किया जाता है। अन्योन्याश्रित है।

(२) वर्णनात्मक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक—ये तीन भेद और व्याकरण दोनों के ही हैं। इस दृष्टि से इन दोनों में पर्याप्त विवरणात्मक रूप व्याकरण तक सीमित रह गया और शेष भाग कोटि में लिये जाते हैं।

अन्तर

(१) भाषा-विज्ञान भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता रूप में वह 'विज्ञान' है। जहाँ तक व्याकरण भी भाषा का विवेच वहां तक वह विज्ञान की कोटि में आ सकता है। परन्तु इसका व्या कला से अपनी अविच्छिन्न सम्बन्ध जोड़ देता है। उसके आधार पर का शुद्ध रूप में बोलना, समझना और लिखना आदि सीखते हैं। व दृष्टिकोण से भी कला है कि वह शब्दों की साधुता और असाधु विचार करता है। स्वीट् महोदय ने इस कारण व्याकरण को भाष कहा है।

(२) भाषा-विज्ञान प्रगतिवादी है। यह नवीन रूपों को सहज

करता है। भाषा के जीवित तथा प्रचलित रूप से भाषा-विज्ञान का घनि
सम्बन्ध है। अतः भाषा-विज्ञान का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक और उदार
विकसित या अविकसित, प्राचीन या अर्वाचीन भाषा का प्रत्येक शब्द सम
समान महत्व रखता है। भाषा-विज्ञान का कार्य सामान्य रूप से भाषाओं
दिग्दर्शन तथा विवेचन करना है। 'प्रत्येक भाषा विकसित होती है' इस सिद्ध
पर भाषा-विज्ञान विश्वास करता है। इसके ठीक विपरीत व्याकरण पुरात
वादी पद्धति को अपनाता है। विद्वान् सदैव व्याकरण के प्राचीन सिद्ध रूपों
ही साधु और शिष्ट मानते हैं, नव-निर्मित शब्द उन्हें खटकते हैं और वे इन
'अपभ्रष्ट' उपाधि से विभूषित करते हैं। संस्कृतेतर नव-विकसित भाषा जिस
में अधिकतर संस्कृत के तद्भव शब्दों का प्रयोग किया गया था पुरातनवादी
वैयाकरणों ने ऐसी भाषा को प्राकृत भाषा अर्थात् जन-साधारण की भाषा का
नाम दिया। क्योंकि उसमें 'धर्म' का 'धम्म' और 'कर्म' का 'कम्म' नवीन शब्द
रूपों का प्रयोग होने लगा था। आगे चलकर प्राकृत के साहित्य-पद पर आसीन
हो जाने पर एक नव विकसित भाषा अस्तित्व में आई। उसे भी इन प्राचीन-
वादी वैयाकरणों ने अपभ्रंश भाषा अर्थात् बिगड़ी हुई भाषा नाम दिया। आगे
प्राकृत और अपभ्रंश के रूपों को भी साधु मानना पड़ा। आज भाषा-विज्ञान
के अन्तर्गत ध्वनि-विचार में हिन्दी के अधिकतर अकारांत शब्द व्यंजनांत माने
जाने लगे हैं, क्योंकि आजकल हिन्दी-भाषा-भाषियों का उच्चारण 'राम' न
होकर 'राम्' है। यदि यह परिवर्तन भाषा में कर दिया जाय तो वैयाकरण
क्रोधित हो उठेंगे और संभवतः इसका तिरस्कार भी हो। चाहे अन्त में यह
तथ्य उन्हें स्वीकार करना पड़े।

(३) व्याकरण भाषा-विज्ञान के पद-चिन्हों का अनुगमन करता है। भाषा
के नये विकसित रूपों का ज्ञान भाषा-विज्ञान कराता है और कालान्तर में
व्याकरण उसको सिद्ध करता है। व्याकरण भाषा की शुद्धि-अशुद्धि पर विचार
करता है और भाषा-विज्ञान सामान्य रूप से उसका तर्क-सम्मत अध्ययन कर
सिद्धांत निरूपण करता है। 'भाषा का वर्तमान रूप क्या है? यह वैयाकरण
बतलाता है, उसका भाव क्या है? साहित्यिक सिखाता है, पर भाषा-वैज्ञानिक
एक पग आगे बढ़कर भाव के साधन की मीमांसा करता है।'

(४) व्याकरण भाषा-विज्ञान के लिए सामग्री प्रस्तुत करता है। व्याकरण भाषा के निष्पन्न तथा सिद्ध रूपों को सामने रख देता है। यह भाषा के व्यावहारिक पक्ष का ही विवरण उपस्थित करता है। भाषा-विज्ञान विवेचन और शोध प्रधान है। उसका लक्ष्य रूप आदि के कारण और विकास की विवेचना है। व्याकरण भाषा के नियमों और उपनियमों का वर्णन करता है, पर भाषा-विज्ञान उसके विकास तथा कारण की खोज कर समुचित व्याख्या करता है। व्याकरण केवल एक रूप को उपस्थित करता है जबकि भाषा-विज्ञान देश, काल और परिस्थितियों वश उसमें हुए परिवर्तन की जाँच करता है। ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन से वह उसके मूल रूप तक पहुंच जाता है। भाषा-विज्ञान की यही चेष्टा रहती है कि शब्दों के आधुनिक तथा निष्पन्न रूपों के कारणों को खोज कर इतिहास से उसके मिलते-जुलते रूपों को निकालकर प्रमाण दे। अतः भाषा-विज्ञान का प्रमुख ध्येय 'क्यों', 'कैसे' और 'कब' की जिज्ञासा शान्त करता है और व्याकरण केवल 'क्या' के प्रश्न का उत्तर देता है।

(५) व्याकरण का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित तथा संकुचित है। व्याकरण विशेष काल की किसी एक भाषा का विवेचन करता है परन्तु भाषा-विज्ञान एक साथ अनेक भाषाओं, शास्त्रों, कलाओं और विज्ञानों के अध्ययन की सहायता से सामान्य नियमों का निर्धारण करता है। अतः भाषा-विज्ञान का क्षेत्र अधिक व्यापक और विशाल है। वह व्याकरण का विकसित रूप है तथा व्याकरण का परम सहायक है। वह व्याकरण का भी व्याकरण है। दोनों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। व्याकरण का क्षेत्र संकीर्ण है और उसका कार्य वर्णन करना है जबकि भाषा-विज्ञान व्यापक है और उसका कार्य व्याख्या करना है।

(६) व्याकरण भाषा की रूप-रचना और वाक्य-गठन का विवरण देता है, किन्तु भाषा-विज्ञान ध्वनि, अर्थ, शब्द-समूह और लिपि आदि का भी विवेचन करता है।

भाषा-विज्ञान और साहित्य

भाषा-विज्ञान से साहित्य के अध्ययन और अध्यापन में पर्याप्त सहायता

मिलती है। दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवित भाषाओं के जीवित रूपों
छोड़कर भाषा का अध्ययन करने के लिए भाषा-विज्ञान साहित्य की सहाय
लेता है। वह साहित्य का चिर-ऋणी है। प्राचीन रूपों के ऐतिहासिक त
तुलनात्मक अध्ययन के लिए समस्त सामग्री साहित्य से उधार लेता है त
सद्विषयक नियमों और सिद्धान्तों की रचना करता है। साहित्य में ही भाषा
विविध तथा विकसित रूप रक्षित रहते हैं। साहित्य के अभाव में भाषा
विषयक खोज प्रायः असम्भव नहीं तो दुरूह अवश्य है। क्योंकि साहित्य भाषा
के विविध रूपों का अक्षय भण्डार है।

भाषा-विज्ञान हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक विकास और मूल प्रकृति को
जानने के लिए अपभ्रंश, प्राकृत, संस्कृत तथा वैदिक साहित्य की ओर निहारता
है। यदि हमारे पास भाषा का क्रम-बद्ध साहित्य उपलब्ध न रहे तो भाषा-
विज्ञान का कोई कार्य निष्पन्न न हो। यदि आज संस्कृत, अवेस्ता तथा ग्रीक
साहित्य का अस्तित्व न होता तो भाषा-विज्ञान इन भाषात्रय के पारस्परिक
तथा पारिवारिक सम्बन्ध न जान पाता। साहित्य में प्रयुक्त भाषा के द्वारा ही
हमें विभिन्न शब्दों और रूपों के परिवर्तन का ज्ञान होता है। इसी समुन्नत
और विशाल साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप भाषा-विज्ञान का कार्य अत्यन्त
समृद्ध और सम्पन्न हो चुका है।

साहित्य और भाषा-विज्ञान का अटूट सम्बन्ध है। साहित्य के अध्ययन
में भाषा-विज्ञान का महत्वपूर्ण योग है। भाषा-विज्ञान साहित्य के विलष्ट
अर्थों एवं विचित्र प्रयोगों को स्पष्ट कर देता है। उच्चारण-सम्बन्धी अनेक
समस्याओं पर तथा ध्वनियों पर भाषा-विज्ञान ने अपूर्व प्रकाश डाला है।
शब्दार्थ-परिवर्तन आदि के कारणों की खोज इसी वाङ्मय के आधार पर हो
ही रही है। इसी प्रकार दोनों एक दूसरे के सहायक हैं। भाषा-विज्ञान की
तुलनात्मक प्रणाली ने व्युत्पत्ति-शास्त्र को अनुपम देन दी है जिससे साहित्य में
प्रयुक्त शब्दों की व्युत्पत्ति संभव हो सकी है।

प्रश्न ३—भाषा-विज्ञान के प्रमुख अंगों का परिचय दीजिए तथा उसकी
उपयोगिता का विवेचन कीजिए। (दि० वि० १९५८, आ० वि० १९६२)

भाषा-विज्ञान में भाषा से सम्बद्ध सभी विषयों तथा समस्याओं पर विचार

ा जाता है। जिस प्रकार मानव-शरीर मे सभी अंगों का अपना-अपना
त्व है उसी प्रकार से भाषा के सर्वांगीण शास्त्रीय अध्ययन के लिए भाषा
बन्धी प्रत्येक पहलू अनिवार्य है। यह अवश्य है कि कुछ अंग अधिक महत्व-
ं हैं और कुछ कम। परन्तु सभी आवश्यक हैं, उन्हें छोड़ा नही जा सकता।
ः इन अंगो का विभाजन प्रधान और गौण दो वर्गों में किया जा
ता है।

धान

(१) वाक्य-विज्ञान (Syntax)—इसको वाक्य-विचार से भी सम्बोधित
या जाता है। वाक्य ही भाषा के माध्यम से विचार-विनिमय का साधन है;
तः यह अधिक स्वाभाविक और महत्वपूर्ण माना जाता है। इसके तीन रूप
ं—

(अ) वर्णनात्मक वाक्य-विज्ञान—इसमे वाक्यों का विवरणात्मक परिचय
हना है—

(आ) ऐतिहासिक वाक्य-विज्ञान—इस विभाग के अन्तर्गत किसी भाषा के
ादिकाल से अब तक के वाक्य-संघटना के सिद्धान्तों पर विचार करना पड़ता
है। वाक्य-रचना का परिचय प्राप्त करते समय मानव-समाज का मनोवैज्ञानिक
अध्ययन भी आवश्यक है। इसलिए यह अधिक जटिल शाखा है।

(इ) तुलनात्मक वाक्य-विज्ञान—इस वाक्य-विज्ञान में किन्हीं दो या
अधिक भाषाओं की तुलना करनी पड़ती है। इस विभाग मे अनेक भाषाओं
का पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। अत यह अत्यन्त कठिन है और इसका विकास
यथेष्ट नहीं हो पाया है। वाक्य-विश्लेषण के अध्ययन के पूर्ण-विकास भाषा-
विज्ञान मे वाछनीय है।

(२) रूप-विज्ञान (Morphology)—इसके अन्य नाम पद-विज्ञान तथा
पद-विचार भी हैं। भाषा का रूपात्मक विवेचन अधिक विस्तार से हुआ क्योंकि
वाक्य-विज्ञान की अपेक्षा यह सहज-ग्राह्य तथा सरल है। भाषा-विज्ञान के रूप
के अन्तर्गत धातु, उपसर्ग, प्रत्यय और विभक्ति आदि का अध्ययन किया जाता
है। इस क्षेत्र मे व्याकरण का अत्यधिक योग रहता है।

(२) ध्वनि-विज्ञान (Phonology)—ध्वनि के ज्ञान से ही व
की स्थापना होती है। ध्वनि-विज्ञान के अन्तर्गत ध्वनियों के विभिन्न पक्षों
विषय किया जाता है। इसके तीन भाग माने जाते हैं—

(अ) ध्वनि-समूहों का अध्ययन—ध्वनियों के उच्चारण में मुख के कोन
भाग सहायक होते हैं, तथा उनकी विभिन्न दशा में जो-जो ध्वनि उच्चरि
होती है, इस प्रकार अध्ययन होता है; इसी के साथ ध्वनियों के उच्चारण
प्रकार तथा उच्चारण प्रयत्नों तथा ध्वनियों के स्थान आदि का
विवेचन होता है।

(ब) ध्वनियों का अध्ययन—इस भाग के अन्तर्गत किसी विशिष्ट भाषा
की ध्वनियों की विवेचना की जाती है। उनमें स्वर, व्यंजन तथा अन्य ध्व
स्वर भेदों का विश्लेषण कर उनके स्थान तथा करण की विवेचना की जाती
है। ध्वनियों की मूल प्रकृति के ज्ञान प्राप्त करने के लिए वाचिक साधनों का
अध्ययन किया जाता है। इसी अंग के अन्तर्गत व्यक्त-ध्वनियों तथा उनके
अनुरूप लिपि का भी अध्ययन किया जाता है, तथा अनेक ध्वनियों समूह का
से एक दूसरी ध्वनि में कैसे विकार कर देती हैं, इसका निर्धारण कर ध्वनि
परिवर्तन के कारणों के नियमों की व्यवस्थापना की जाती है।

(स) ध्वनियों के परिवर्तन-सम्बन्धी नियमों का अध्ययन—इसके अन्तर्गत
ध्वनियों के अनेक प्रकार के परिवर्तन की मीमांसा करते हैं तथा वस्तुतः
विश्लेषित करते हैं। संस्कृत से प्राकृत में या हिन्दी में कौन-कौन-सी
ध्वनियों का किस-किस प्रकार का परिवर्तन हुआ, यह देखकर उसके आधार
पर विभिन्न ध्वनि-नियमों की व्यवस्थापना की जाती है। भिन्न-भिन्न का अवल
इसी के है। इस अध्ययन के दो रूप हैं—ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक।

३. अर्थ-विज्ञान (Semantics)—इस अंग में शब्दार्थ-सम्बन्धी और उसके
विकास के कारणों पर विचार किया जाता है। अर्थ-विचार के अन्तर्गत दो
प्रश्न होते हैं—मनोविज्ञान और भाषा के बौद्धिक नियमों का अनुशीलन।
अर्थ-विज्ञान के अध्ययन के दो ढंग माने जा सकते हैं—

१. ऐतिहासिक अर्थ-विज्ञान—इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम प्रस्तुत शब्द तथा

अर्थ के सम्बन्ध से उपस्थित होता है। कुछ भाषा-शास्त्री शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य मानते हैं, कुछ नहीं। इसमें अर्थ-प्रतीति पर भी विचार किया जाता है।

२. व्यावहारिक अर्थ-विज्ञान—इसमें अर्थ-प्रकार और शब्द-शक्तियों से उसके सम्बन्ध का अध्ययन किया जाता है।

(१) शब्द भण्डार (Vocabulary)—शब्द-भण्डार का वैज्ञानिक अध्ययन किसी भाषा की संरचना या रचना में बड़ा काम देता है। भाषा में विज्ञानीय तत्वों का निर्वाचन शब्द-भण्डार से ही होता है। कभी-कभी नवनिर्मित शब्द भी बोल-चाल की भाषा के अंग बन जाते हैं और उनका वैज्ञानिक अध्ययन होने लगता है। व्युत्पत्ति तथा कोश-निर्माण भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन भी निर्वचन की दृष्टि से किया जाता है।

गौण

(१) भाषा की उत्पत्ति—भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मत निर्धारित किए गए हैं। परन्तु उनके मत किसी न किसी दोष से अभिशप्त हैं। अधिकांश विद्वानों ने मनो के समन्वय-वाद पर सान्त्वना प्रदान की है।

(२) भाषाओं का वर्गीकरण—भाषाओं के परिवार तथा समुदाय का निश्चय भाषाओं के तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन के उपरान्त किया जाता है, तदनुसार उनको विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जाता है। साथ ही अर्थ या ध्वनि सम्बन्धी अनेक प्रश्नों पर भी प्रकाश डाला जाता है। भाषाओं का पारिवारिक तथा आकृति-मूलक वर्गीकरण इसी श्रेणी में आता है।

(३) व्युत्पत्ति-शास्त्र (Etymology)—यह अत्यन्त मनोरंजक विषय है। भाषा के शास्त्रीय अध्ययन में इससे सहायता मिलती है। ध्वनि, अर्थ और रूप का समन्वित तथा विकसित अर्थ निर्वचन के लिए प्रयुक्त होता है।

(४ भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज (Linguistic Palaeontology)—भाषा का गवेषणात्मक अध्ययन एक देश की प्राचीनतम तथा प्रागैतिहासिक कालीन संस्कृति का पता लगाने में अत्यधिक सहायक होता है। ऐसा युग जो इतिहास के पृष्ठों के परे की वस्तु है। भाषा के आधार पर

[illegible] मनुष्य के [illegible] किया जा सकता है। [illegible] भाषा का निर्माण [illegible] मनुष्य के [illegible] सहयोग से ही हुआ है। यह [illegible] है, परन्तु इसे [illegible] करने का विशेषाधिकार [illegible] है। इसके इस [illegible] को [illegible] करने के लिए [illegible] करते हैं।

(२) लिपि (Script)—लिपि एक प्रकार से भाषा का परिधान है। मनुष्य भाव को विचाराभिव्यक्ति तथा भावाभिव्यक्ति को साकार करने में इसका बड़ा हाथ है। पर इसका सम्बन्ध भाषा के लिखित रूप से है। भाषा-विज्ञान लिपि का वैज्ञानिक अध्ययन करता है और इसके उद्भव और विकास की मीमांसा भी करता है। भाषा-विज्ञान ध्वनि-विचार की सहायता से लिपि को संशोधन कर इसको अधिक वैज्ञानिक और उपयोगी बनाने के लिए प्रयत्नशील है।

भाषा-विज्ञान की उपयोगिता

प्रत्येक वस्तु की अपनी उपयोगिता तथा महत्ता होती है। जो वस्तु जितनी ही उपयोगी होती उससे मानव तथा समाज का उतना ही कल्याण होगा। मानव-जाति तथा मानवता की समृद्धि तथा कल्याण करना विज्ञान मात्र का उद्देश्य है। भाषा-विज्ञान का योग भी इस सम्बन्ध में उपेक्षणीय नहीं है। भाषा-विज्ञान के अध्ययन से हमें निम्नोक्त लाभ है—

(१) मानव विवेक प्रधान प्राणी है। भाषा तथा शब्द विषयक अनेक प्रश्न उसके मस्तिष्क में घूमते रहते हैं। उसका इस प्रकार का कौतूहल साहित्य तथा व्याकरण का अध्ययन करते समय अधिक बढ़ जाता है। भाषा-विज्ञान इस कौतूहल तथा जिज्ञासा को तृप्त करने की चेष्टा करता है और साथ ही भाषा-सम्बन्धी अनेक समस्याओं का समाधान उपस्थित करता है।

(२) भाषा-विज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त विशाल और विस्तृत है। वह किसी भाषा के बन्धन को स्वीकार नहीं करता; वरन् यह विश्व के किसी कोने की भाषा को अपने विराट् रूप में आत्मसात् कर लेता है। साथ ही इसका सम्बन्ध अनेक शास्त्रों तथा विज्ञानों से है। इतिहास, मनोविज्ञान, पुरातत्व,

[illegible] दृष्टि को [illegible] से [illegible] [illegible] को वैज्ञानिक तथा तर्क-[illegible] बना देता है एवं [illegible] की वृद्धि करता है।

(३) भाषा-विज्ञान, साहित्य और संस्कृति का विशेष संबंध है। भाषा-विज्ञान के द्वारा ही साहित्य तथा सांस्कृतिक अध्ययन में हमें किसी विशेष जाति या राष्ट्र-समाज के मानसिक स्तर का परिचय मिलता है और उस विचार-धारा के विकास से हम परिचित हो जाते हैं। प्रत्येक जाति की विचार-पद्धति का ज्ञान होता है। भाषा का गहरा अध्ययन भाषा-विज्ञान करता है।

(४) भाषा-विज्ञान पाठकों की दृष्टि को अधिक व्यापक और उदार बनाता है। यही कारण है कि यह अपने व्यावहारिक के कारण एक राष्ट्र की सीमित परिधि को लांघ कर विश्व-बन्धुत्व तथा मानव मात्र की ऐक्य-भावना का संचार करता है। यह सभी भाषाओं के प्रति सम, उदार तथा आदर की दृष्टि रखता है। अतः संसार की समस्त भाषाओं का समान रूप से अध्ययन करने से मानव मात्र की एकता की भावना स्वयमेव उत्पन्न हो जाती है।

(५) विश्व के लिए एक सामान्य भाषा का विकास तथा निश्चय करने में भाषा-विज्ञान का अध्ययन परम उपयोगी है। जैसे 'एसपरेन्तो' भाषा।

(६) ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक सभ्यता और संस्कृति के आकलन में हमें भाषा-विज्ञान से अनुपम सहायता मिलती है। हम सहज में ही इसके अध्ययन द्वारा अज्ञात तथा अं [illegible] अतीत के अन्तस्तल में प्रवेश कर मानवीय संस्कृति [illegible] का अनावरण कर देते हैं। जिस

विज्ञान की अनेक शाखाओं की उत्पत्ति हुई है। जैसे तुलनात्मक नीति और धर्म विज्ञान। अनेक जातियों के धर्म तथा मतों का तुलनात्मक अध्ययन होने लगा है।

(९) विदेशी व्यक्तियों को शिक्षा ग्रहण करने में भाषा-विज्ञान के अध्ययन से सहायता होती है। उनके ठीक एवं सहज बोध प्रणाली से हम अवगत हो जाते हैं।

(१०) भाषा और लिपि को अधिक शुद्ध और व्यापक बनाने में इसका अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है। भाषा-विज्ञान भाषा-सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करता है। दोषों का परिहार तथा गुणों की वृद्धि करके यह भाषा को अधिक समुन्नत और समृद्ध बनाता है। भाषा, ध्वनि और अर्थ के परिवर्तन के कारणों की खोज करता है।

प्रश्न ४— सिद्ध कीजिए 'भाषा-विज्ञान की परम्परा बहुत प्राचीन काल से अविच्छिन्न चली आती है।'

अथवा

भाषा-विज्ञान तथा भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन के सम्बन्ध में जो कार्य भारतीय विद्वानों के द्वारा हुआ है उसका आलोचनात्मक परिचय दीजिए।

यह एक तथ्य है कि भारतवर्ष में भाषा-विज्ञान की परम्परा बहुत प्राचीन काल से अविच्छिन्न चली आ रही है। भाषा-सम्बन्धी अध्ययन के संकेत हमें भारत में उपलब्ध साहित्य से ही मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। भारत का सबसे प्राचीन उपलब्ध वाङ्मय वैदिक-साहित्य माना जाता है। अतः भारतीय भाषा-अध्ययन की धारा का उद्गम उसी महान् स्रोत से है। वैदिक काल में इतना ज्ञात था कि वाक्य के खण्ड हो सकते हैं जैसा कि कृष्ण-यजुर्वेद संहिता में वर्णित देव और इन्द्र के उपाख्यान से विदित है जिसमें देवों ने इन्द्र से उनके कथन के टुकड़े कर देने के लिए प्रार्थना की थी। ये संकेत उनके भाषा-ज्ञान पर प्रकाश डालते हैं। व्यवहार रूप में सर्वप्रथम कार्य ब्राह्मण-ग्रंथों में ही मिलता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ तथा प्रातिशाख्य

संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण-ग्रंथों का काल माना जाता है। इन ग्रंथों में यदा-कदा ध्वनि और अर्थ का उल्लेख किया गया है। धातुओं के अर्थ को समझाने का यह प्रथम प्रयास है। वैदिक संहिताओं का पद-पाठ भाषा-विज्ञान के विकास में एक नवीन अध्याय जोड़ देता है। इसमें सन्धि, समास और स्वराघात के आधार पर संहिताओं को पद रूप में किया गया है। प्रत्येक संहिता का पद-पाठ पृथक् पृथक् ऋषि ने किया। शाकल्य ऋषि ऋग्वेदीय पद-पाठ के, गार्ग्य सामवेदीय के तथा माध्यन्दिन यजुर्वेदीय के पद-पाठकार थे। वेदों की ध्वनि तथा उच्चारण की दृष्टि से परम्परागत परिपाटी को अक्षुण्ण बनाने के लिए वेदों की प्रतिशाखा का अध्ययन होने लगा। वेदों के शुद्ध उच्चारण और नियत ध्वनि की रक्षा के लिए विद्वानों ने प्रतिशाखानुसार जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये उन्हें प्रातिशाख्य कहते हैं। यह उपलब्ध प्रातिशाख्य पाणिनि के उत्तर काल की रचनाएँ हैं और प्राचीन प्रातिशाख्य पर आधारित हैं। पदों के नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात भेद, ध्वनियों का प्रौढ़ वर्गीकरण तथा स्वराघात, मात्रा-काल और उच्चारण विषयक नियमों का अध्ययन हुआ।

निघण्टु और यास्क (८०० ई० पू०)

प्रातिशाख्यों के बाद निघण्टु की रचना हुई। यास्क ने निरुक्त के रूप में निघण्टु की व्याख्या की है। इस समय एक ही निघण्टु प्राप्त है। निघण्टु वेदों के क्लिष्ट शब्दों की सूची मात्र है। यास्क ने उसके प्रत्येक शब्द को लेकर वेदों से उद्धरण देकर व्युत्पत्ति तथा अर्थ पर विचार किया है। अर्थ-विज्ञान के क्षेत्र में यह प्रथम प्रयास है। निरुक्तकार यास्क ने शाकटायन, गार्ग्य आदि अनेक भाषा-शास्त्रियों का उल्लेख किया है तथा उनके मतों को भी उद्धृत किया है। शब्दों की व्याख्या के साथ ही साथ भाषा की उत्पत्ति, प्रकृति और विकास का स्पष्टीकरण किया है। इस पर्यवेक्षण से ज्ञात होता है कि भाषा-विज्ञान का विकास इस समय तक पर्याप्त हो चुका था।

कात्यायन और पतंजलि

वैयाकरणों में आपिशलि, काशकृत्स्न और इन्द्र आदि आचार्य

है। [illegible]

[illegible] पाणिनि के [illegible] भट्टोजि [illegible] [illegible] इन सभी [illegible] [illegible] आलोचना, [illegible] [illegible] व्याकरण कोई भी मौलिक ग्रन्थ [illegible] नहीं लिखा। [illegible] पाणिनि का [illegible] व्याकरण और भाषा [illegible] पर उनका प्रभाव सर्वत्र है।

वार्तिककार कात्यायन (३०० ई० पू०) पाणिनि के समकालीन थे। पाणिनि के मत की आलोचना इन्होंने सूत्रात्मक शैली में की है और इन सूत्रों को वार्तिक कहा जाता है। वार्तिक में पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के १५०० सूत्रों की आलोचना की है। कात्यायन ने पाणिनि के पारिभाषिक शब्दों में भी कुछ परिवर्तन किया है। इनके कुल चार हजार वार्तिक हैं। एक प्रकार से यह अष्टाध्यायी का सहायक ग्रन्थ है।

पतंजलि (१५० ई० पू०) की कृति महाभाष्य है। उन्होंने पाणिनि का पक्ष लेकर कात्यायन की आलोचना की और उनके आक्षेपों का उत्तर तर्कपूर्ण रीति से दिया है। उनके नियमों को 'इष्टि' कहा जाता है। कुछ नियमों की रचना पाणिनि के सूत्रों में भाषानुसार सुधार करने के लिए भी की गई। पतंजलि ने अपनी प्रभविष्णु शैली में भाषा का दार्शनिक विवेचन अत्यन्त सुन्दर किया है। शब्द, अर्थ तथा ध्वनि के सम्बन्ध का वैज्ञानिक अध्ययन 'महाभाष्य' में मिलता है। पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि को संस्कृत 'व्याकरण के मुनि-त्रय' की संज्ञा से विभूषित किया गया है।

[illegible]

[illegible] की टीका [illegible] (७०० ई०) लेकर इस ने [illegible] की व्याख्या के रूप में [illegible] किया था। जिनेन्द्रबुद्धि ने काशिका [illegible] 'न्यास' नाम से की। काशिका की टीकाओं में हरिदत्त की [illegible] की सुन्दर व्याख्या की है। वाक्यपदीय की टीकाओं में भर्तृहरि की [illegible] 'पदीप' पुनः प्रकाश है जिसमें उन्होंने वाक्य के सम्बन्ध में पद पर विचार किया [illegible]।

कौमुदीकार

टीकाकारों के उपरान्त कौमुदीकारों का समय आता है। अष्टाध्यायी को [illegible] सुबोध बनाने के लिए टीका के पुरातन विधान का त्याग किया गया [illegible]। प्रक्रिया-पद्धति का उपक्रम किया गया जो कौमुदी के नाम से विख्यात हुआ। [illegible] इस दिशा का सर्वप्रथम ग्रंथ विमल सरस्वती की रचना 'रूपमाला' है। [illegible] आहार, सन्धि, कृत, तद्धित और समास के व्यवस्थित क्रम का इस ग्रंथ [illegible] अनुसरण किया गया है। भट्टोजी दीक्षित कृत 'सिद्धान्त-कौमुदी' भाषा-विज्ञान [illegible] संस्कृत भाषा की सर्वाधिक महत्व की रचना है। इसकी लोकप्रियता ने अष्टाध्यायी को भी उपेक्षित बना दिया है। अन्य व्याकरणों में हेमचन्द्र का [illegible] शब्दानुशासन तथा बोपदेव का मुग्धबोध भी उल्लेखनीय है।

शब्द की अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का तात्विक और भाषा-[illegible] विषयक विवेचन ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, रस-गंगाधर आदि ग्रन्थों में [illegible] मिलता है।

प्राकृत भाषाएँ

संस्कृत के पश्चात् प्राकृत, पाली तथा अपभ्रंश भाषाओं का विकास हुआ। [illegible] उनका अध्ययन कर व्याकरणों ने उन्हें भी व्याकरण के जटिल नियमों में बांध [illegible] दिया। पाली भाषा में कच्चायन, मोग्गलान रचित व्याकरण संस्कृत के पद-[illegible] चिन्हों पर लिखे गये। हेमचन्द्र के 'शब्दानुशासन' के आठवें अध्याय में प्राकृतों [illegible] पर विचार किया गया है। वररुचि का 'प्राकृत-प्रकाश' प्राकृत भाषा का पुरातन [illegible] व्याकरण है। इन भाषा-ग्रन्थों में प्राकृतों के तुलनात्मक अध्ययन को प्रमुख रूप [illegible] से अपनाया गया है।

आधुनिक युग

भारत में भाषा-विज्ञान का सर्वप्रथम श्रेय [illegible] को है। योरोपीय विद्वानों ने भारतीय भाषाओं के अध्ययन में विशेष कार्य किया है। 'कैरे कम्पेरेटिव ग्रामर ऑफ इंडियन लैंग्वेजेज' तथा डी० ब्राउन ने 'द्राविड़ियन ग्रामर' तथा डी० एम० कैलवेल ने 'द्राविड़ी का तुलनात्मक व्याकरण' की रचना कर उपर्युक्त भाषाओं को एक वैज्ञानिक दृष्टि दी डा० टर्नर का मैथिली कोश तथा डा० केलॉग का हिन्दी भाषा व्याकरण प्रमुख है। अन्य प्रान्तीय भाषाओं में डा० हार्नली ने भोजपुरी पर ग्रियर्सन ने बिहारी भाषा पर, टूम्ब एवोक ने मराठी भाषा पर महत्वपूर्ण कार्य किया है।

वर्तमान युग में भाषा-विज्ञान सम्बन्धी कार्य करने वालों में स्व० रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर का नाम चिरस्मरणीय है। उन्होंने संस्कृत व्याकरण की परम्परा को रखते हुए योरोपीय विद्वानों के सिद्धान्तों का गहन अध्ययन किया है तथा प्राचीन भव्य तथा आधुनिक आर्य-भाषाओं की शोधपूर्ण मीमांसा की है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा आर्येन्द्र शर्मा का नाम मूल भारोपीय भाषा के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। चटर्जी का बंगाली भाषा के विकास का कोश भी अनेक दृष्टियों से भाषा-विज्ञान की सम्पत्ति है। डा० धीरेन्द्र वर्मा (ब्रज), बाबूराम सक्सेना (अवधी), मोहद्दीन कादरी (हिन्दुस्तानी ध्वनि), उदयनारायण तिवारी (भोजपुरी), सुभद्र झा (मैथिली), हरदेव (हिन्दी अर्थ-विचार) भी प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री हैं।

प्रश्न ५—आधुनिक भाषा-विज्ञान के प्रारम्भिक इतिहास का दिग्दर्शन कराइए।

अथवा

उन्नीसवीं शताब्दी में भाषाविज्ञान के प्रारम्भ तथा विकास का श्रेय किन प्रमुख यूरोपीय विद्वानों को दिया जाता है। इन विद्वानों की प्रमुख रचनाओं का भी संक्षिप्त परिचय दीजिए।

योरुप का भाषा-विषयक विवेचन इतना पुरातन नहीं जितना भारत का है। इसका एकमात्र कारण पुरातन साहित्य के अध्ययन की व्यवस्थित शृंखला

का प्रभाव था। अतः भाषा तत्वों का विश्लेषण एवं वैज्ञानिक अध्ययन योरप में भारत की अपेक्षा अधिक देर से हुआ। योरप के भाषा-सम्बन्धी अध्ययन के दो भेद किये जा सकते हैं—प्राचीन और आधुनिक।

प्राचीन

सर्वप्रथम ग्रीस के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के विषय प्रस्तुत किया। प्लेटो ने अपने गुरु सुकरात के भाषा के अनुभव को अधिक परिष्कृत किया। ग्रीक ध्वनियों के घोष और अघोष के रूप में वर्गीकरण का यह प्रथम प्रयास था। अक्षर विचार के अन्तर का स्पष्टीकरण तथा ध्वनियों का संकेत प्लेटो की कृतियों में मिलता है। तत्पश्चात् अरस्तू ने भी प्लेटो के कार्य को आगे बढ़ाया। अरस्तू ने पदों का विभाजन कर संज्ञा तथा क्रिया के रूपों को अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा की है। ये वर्ण को अविभाज्य ध्वनि मानते हैं। अरस्तू द्वारा दी गई स्वर की परिभाषा (स्वर वह है जिसकी ध्वनि बिना जिह्वा या ओष्ठ के उच्चरित हो) कुछ अंशों में वैज्ञानिक कही जा सकती है।

ग्रीक

ग्रीक भाषा के सर्वप्रथम वैयाकरण थ्रैक्स थे। यूरोप में स्वर और व्यंजनों की उचित परिभाषा सबसे पहले इन्होंने ही दी है। कर्ता, क्रिया, काल, लिंग, पुरुष और वचन के पारस्परिक सम्बन्ध की स्पष्ट अभिव्यक्ति इनके व्याकरण में प्राप्त होती है। इस कृति की उपादेयता अब भी कम नहीं है।

लैटिन

ग्रीस और रोम के सम्पर्क के फलस्वरूप दोनों संस्कृतियों का मेल हुआ। ग्रीक पद्धति के आधार पर लैटिन का भी सम्यक् अध्ययन होने लगा और उस भाषा के व्याकरण लिखने की प्रवृत्ति आगरूक हुई। पन्द्रहवीं शताब्दी में प्रसिद्ध विद्वान् लारेन्स वाल ने प्रथम प्रामाणिक लैटिन व्याकरण लिखा। वरो और प्रिस्किअन के व्याकरण भी उपयोगिता की दृष्टि से उत्तम हैं। ईसाई धर्म के प्रसार के तथा रोम तथा ग्रीस में ओल्ड टेस्टामेण्ट के अध्ययन के कारण ग्रीक, लैटिन और हिब्रू भाषाओं के तुलनात्मक विवेचन का श्रीगणेश होने लगा।

धार्मिक भावना से प्रेरित होकर अनेक विद्वान् इस क्षेत्र की ओर बढ़े। ध्वनि साम्य की जिज्ञासा-तृप्ति के हेतु सीरियन तथा अरबी भाषा का भी अध्ययन होने लगा। नवीन युग के कुछ पूर्व जागरण आन्दोलन (Renaissance) के कारण सभी मनुष्यों का ध्यान अपनी-अपनी प्राचीन भाषा की ओर प्रवृत्त हो गया। परिणामस्वरूप कोश और व्याकरण का सूत्रपात नवीन रूप से हुआ।

इसके पश्चात् अठारहवीं शताब्दी में योरोपीय भाषाविदों ने भाषा के उद्गम और विकास सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करना प्रारम्भ किया। भाषा की उत्पत्ति के विषय में रूसो ने निर्णय-सिद्धान्त की उद्भावना की। कॅंडिलक ने भाषा का उद्गम भावाभिव्यंजक स्वाभाविक ध्वनियों से माना है। परन्तु दोनों का व्यावहारिक रूप से अधिक महत्व नहीं है। जे० जी० हर्डर ने १७७२ में 'भाषा की उत्पत्ति' निबन्ध लिखा जिसमें भाषा की दैवी उत्पत्ति का खण्डन किया। उसका मत था—मनुष्य ने भाषा नहीं बनाई परंतु आवश्यकतानुसार भाषा का सहज विकास हुआ। डी० जेनिश ने आदर्श-भाषा-प्रतियोगिता में ग्रीक, लैटिन तथा अन्य यूरोपियन भाषाओं को तुलनात्मक प्रणाली से परखने का प्रयास किया था।

आधुनिक (१९ वीं शताब्दी)

उन्नीसवीं सदी भाषा-विज्ञान के समुचित विकास का युग था। भारतीय भाषा के अध्ययन और संसर्ग के फलस्वरूप भाषा का व्यापक तथा गहन अध्ययन होने लगा। यूरोपीय विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन कर प्राचीन भाषाओं ग्रीक और लैटिन से तुलना कर नवीन तथ्यों का अन्वेषण किया। १७९६ में रायल एशियाटिक सोसाइटी की आधार-शिला रखते हुए सर विलियम जोन्स ने ग्रीक और लैटिन से संस्कृत का साम्य स्थापित कर उसके अपेक्षाकृत महत्व और श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। इन भाषाओं के अतिरिक्त गाथिक, केल्टिक और प्राचीन फारसी भाषा के एक मूल स्रोत की सम्भावना पर विश्वास प्रकट किया। जोन्स के इस महान् कार्य का निदर्शन कोल ब्रुक ने संस्कृत भाषा पर अनेक निबन्ध लिख कर किया। इस कार्य के परिणामस्वरूप पाश्चात्य यूरोपीय देशों में संस्कृत का अध्ययन शोध-दृष्टि से होने लगा।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में जर्मन विद्वान क्लेगेल ने तुलनात्मक

व्याकरण की परम्परा की नींव डाली तथा कुछ ध्वनियों के नियम का सूत्रपात भी किया। उनका महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'भारतीय भाषा और ज्ञान' है। उन्होंने भाषाओं के विभाजन का प्रयास सर्वप्रथम किया। उनके बड़े भाई अडोल्फ श्लेगेल ने संस्कृत और सगोत्रीय भाषाओं को संयोगात्मक और वियोगात्मक दो उपवर्गों में बाँटा। ह्म्बोल्ट महोदय ने भाषा के ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टिकोण के ऊपर बल दिया। इस दृष्टिकोण के व्यापकत्व के कारण उनको तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का पिता कहा गया है। भाषा-विभाजन के समय चीनी भाषा के पार्थक्य पर विचार प्रकट किया।

इस युग के रैंस, ग्रिम और बॉप भाषा-शास्त्री-त्रय प्रमुख हैं। रैंस ने नार्स भाषा की उत्पत्ति तथा ग्रीनलैंड की भाषा के विकास पर उपयोगी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। इनका मत था कि लिखित सामग्री के अभाव में किसी देश के इतिहास का परिचय भाषा-गठन एवं शब्द-समूह के आधार पर किया जा सकता है। द्रविड़ भाषाओं को संस्कृत से भिन्न बतलाते हुए इन्होंने अनेक भाषाओं के व्याकरण की रचना की। १८१९ में याकोब ग्रिम का देवभाषा व्याकरण जर्मन भाषा के ऊपर उच्च कोटि का अनूठा व्याकरण है। इसी में ग्रिम नियम का वर्णन है। इसमें ध्वनि-नियमों पर एक नव्य दृष्टि डाली है तथा वाक्य पर भी प्रशंसनीय कार्य किया है। फ्रान्ज बॉप भाषा-विज्ञान के प्रधान स्तम्भों में से एक है। 'धातु-प्रक्रिया' नामक इनकी पुस्तक में ग्रीक, लैटिन अवेस्ता, जर्मन तथा संस्कृत के विविध रूपों की तुलनात्मक मीमांसा की गई है। अनेक भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण की रचना के साथ ही संस्कृत का गम्भीर अध्ययन इन्होंने भाषाओं के मूल को खोजने के लिए किया। बॉप ने संस्कृत तथा ग्रीक भाषाओं के स्वराघात पर भी एक वैज्ञानिक अवलोकन किया है। बॉप का सबसे बड़ा सिद्धान्त वाक्य यह था कि भाषा-विज्ञान के नियम अपनी एक निश्चित परिधि के भीतर ही सत्य हैं।

इस समय तक भाषा-विज्ञान का ठोस स्वरूप सामने आने लगा था। भाषा के पर्यालोचन की पर्याप्त सामग्री को विभिन्न विद्वानों के अध्ययन ने अधिक समृद्ध बना दिया था। संस्कृत तथा प्राचीन भाषाओं के अध्ययन के अतिरिक्त पहलुओं तथा प्रश्नों की सार्थकता पर भी

विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ। व्युत्पत्ति-शास्त्रज्ञ पॉट ने तुलनात्मक व्य-
नियों का कोष्टक तैयार किया। इनके अनन्तर आगस्ट श्लाइखर ने आर्य-भाषा
का पुनर्निर्माण जर्मन के तुलनात्मक व्याकरण की रचना करके किया। वर्गीकरण
को अधिक सूक्ष्म बनाने का इन्होंने प्रयत्न किया। इस क्षेत्र में कुहिन्स का
नाम भी उल्लेखनीय है।

भाषा-विज्ञान को अधिक लोकप्रिय बनाने का कार्य फ्रेड्रिक मैक्समूलर ने
किया, इनकी शैली इतनी रोचक थी कि बहुत से लेखक उससे प्रभावित होकर
भाषा-विज्ञान की ओर उन्मुख हुए। १८६१ में उनके व्याख्यान प्रकाशित हुए
जो अनेक व्यक्तियों के लिए प्रेरणा का स्रोत बने। मैक्समूलर का सबसे बड़ा
कार्य भाषा का उद्गम और विकास, विकास के कारण तथा भाषा की प्रकृति
और वर्गीकरण है। वे प्रधानतः साहित्यिक और दार्शनिक व्यक्ति थे। भारतीय
भाषा, साहित्य एवं दर्शन को विश्व में उच्च पद पर आसीन करने वाले वे ही
थे। अर्थ-विचार, आर्यों का मूल स्थान तथा नागरी लिपि का प्रचार, ये तीन
कार्य जो पहिले उपेक्षित थे इनके द्वारा ख्याति को प्राप्त हुए।

इस दिशा में मैक्समूलर के प्रतिद्वन्द्वी अमेरिकन विद्वान् विलियम ह्वाइट
ह्विटनी हैं। इनके ग्रन्थ 'भाषा और भाषा का अध्ययन', 'भाषा और जीवन
का विकास' तथा 'मैक्समूलर और भाषा-विज्ञान' ये तीन हैं। ह्विटनी भाषा
को मानवीय उद्योग के फलस्वरूप विकसित मानता था। उसने मैक्समूलर के
काल्पनिक सिद्धान्तों की समीक्षा कर उनको विशुद्ध रूप प्रदान किया।

नवयुग

भाषा-विज्ञानियों की नव्य-धारा का उदय १९वी सदी के तृतीय चरण में
हुआ। हेमैन स्टाइन्थाल ने भाषा-विज्ञान के अध्ययन में तर्कशास्त्र और मनो-
विज्ञान को भी स्थान दिया। कार्ल ब्रुगमन् के अनुनासिक सिद्धान्त के उदय से
ग्रिम-नियम की अनेक शंकाओं एवं अपवादों का समाधान हो गया है। वारनेन,
वर्नर तथा जेस्पर्सन का नाम ध्वनि के क्षेत्र में बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वारनेन-
लक्स अथवा वर्नर-नियम ने ग्रिम-नियम के अपवाद दूर करने का सफल प्रयत्न

भारत में संस्कृत को देवभाषा तथा वेदों को अपौरुषेय समझा जाता है। इसी प्रकार ईसाई प्राचीन विधान (Old Testament) की भाषा को, बौद्ध पालीको ईश्वर की प्रथम भाषा मानते हैं आधुनिक भाषाओं का उद्भव इन्हीं से हुआ है।

खण्डन

(क) ईश्वर की दी हुई एक ही बोली होनी चाहिए थी। ईश्वर-प्रदत्त भाषा प्रारम्भ से विशिष्ट, सम्पन्न, परिमार्जित तथा तर्क-युक्त और शुद्ध होनी चाहिए थी। परन्तु हम देखते हैं कि भाषा का विकास धीरे-धीरे होता है।

(ख) मिस्र के राजा सेमेटिक्स के परीक्षण से ज्ञात होता है कि एकान्त में रखे गए दो नवजात शिशुओं के मुख से फ्रीजियन शब्द 'बेकोस' निकला जिसका अर्थ है 'रोटी'। यह शब्द रोटी लाने वाले प्रहरी के मुख से अनजान में निकल गया था। बादशाह अकबर के इसी प्रकार के प्रयोग से बच्चे गूँगे पाए गये। इससे यह निष्कर्ष निकला कि कोई भी शिशु भाषा लेकर नहीं आता।

२. धातु-सिद्धान्त या डिंग-डांगवाद (Ding-Dong Theory)—मैक्समूलर की यह भाषा-विषयक उद्भावना अपूर्व है। उसका मत था कि प्रत्येक धातु का टुकड़ा किसी वस्तु से टकराने पर एक विशेष कम्पनमय ध्वनि करता है। यह ध्वनि अन्य ध्वनियों से भिन्न होती है। सृष्टि के आरम्भ में इसी प्रकार की एक विभावना शक्ति मनुष्य मे थी। जब वह किसी वस्तु के सम्पर्क में आता उसके मुख से उस वस्तु के लिए एक ध्वनि प्रकट हो जाती थी। यह एक नैसर्गिक शक्ति थी जो भाषा का विकास होने पर लुप्त हो गई। विभिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध मे ये ध्वन्यात्मक अभिव्यक्तियां 'धातु' थीं। आरम्भ में धातुओं की संख्या बहुत बड़ी थी। धीरे-धीरे ये ध्वनि-रूप लुप्त हो गए, केवल ४००-५०० धातु शेष रहे। उन्हीं से भाषा की उत्पत्ति हुई। यह मत ध्वनि और अर्थ में एक रहस्यमय सम्बन्ध मानता था।

खण्डन

मैक्समूलर की भाषा के उद्भव की यह धारणा किसी ठोस प्रमाण के अभाव में केवल कल्पना पर ही आधारित है। मनुष्य के अंदर उद्भाविका शक्ति का कोई आधार नहीं है। भारोपीय तथा सेमेटिक परिवारों मे ही धातुओं की स्थिति है, अन्य भाषा-परिवारों में धातु जैसी कोई वस्तु नहीं है। भाषा के लिए

धातु प्रत्यय, उपसर्ग आदि भी अनिवार्य तत्व हैं, परन्तु इसमें उसका कुछ भी उल्लेख नहीं हुआ है। नामों से आख्यात (धातु) उत्पन्न हुए हैं। इन तर्कों के आधार पर यह मत निराधार है।

३. सांकेतिक उत्पत्ति—इसे प्रतीकवाद, स्वीकारवाद, विमर्शवाद तथा निर्णय-सिद्धान्त भी कहा जाता है। आदिकाल में जब मानव-समाज का अंग-संचालन तथा संकेतों द्वारा भावाभिव्यक्ति का कार्य सम्पन्न न हो सका तब सम्पूर्ण मानव-समुदाय ने घोर विचार-विनिमय के लिए एकत्रित होकर अपनी इस अवस्था पर विचार किया। यहाँ वस्तु या क्रियाओं आदि के लिए, ध्वनि-संकेत, सांकेतिक नाम तथा विभिन्न शब्द निश्चित कर स्वीकार किये। आज की भाषा उन्हीं ध्वनि-संकेतों का परिवर्तित रूप है।

आलोचना

(क) गर्भाधान के समय भाषा के अभाव में मनुष्यों ने विचार-विनिमय में किस साधन का प्रयोग किया होगा ?

(ख) अचानक ही वस्तु तथा ध्वनियों के नामकरण के सम्बन्ध में कौन-सी शक्ति उनको सूझी।

(ग) उनको हस्त-संचालन आदि-आदि संकेतों द्वारा कार्य होते हुए भाषा की क्या आवश्यकता थी ? अतः यह मत भी विद्वानों को स्वीकार न हुआ।

४. ध्वनि-अनुकरण सिद्धान्त—(क) इसके अन्य नाम शब्दानुकृतिवाद अनुकरण मूलकतावाद, भों-भों-वाद (Bow-Wow Theory) आदि है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य ने पशु-पक्षियों की ध्वनि सुनकर उनके अनुकरण पर नये शब्द बना लिये और इसी आधार पर भविष्य में भाषा का विकास हुआ। जैसे, कौवे की काँ-काँ ध्वनि के आधार पर 'काक' की रचना हुई। उसी प्रकार गाऊँ, कोकिल, पी-पी, में-में, मिमियाना, हिनहिनाना, घुर्राना, दहाड़ना, गिरने की ध्वनि से पत्=पत्र, बहते हुए शब्द करने से नद्=नदी आदि शब्द तथा धातुओं की रचना हुई।

(ख) अनुरणन सिद्धान्त या अनुरणन मूलकतावाद भी एक प्रकार से ध्वनि अनुकरण है। यहाँ प्रायः निर्जीव वस्तुओं की ध्वनि का अनुकरण होता है जैसे भनभनाना, तड़तड़ाना, कल-कल छल-छल, खट-खट आदि। अंग्रेजी में murmur, thunder, jazz. आदि शब्द इसी प्रकार के हैं।

मीमांसा

(१) इस प्रकार के शब्दों का अनुपात बहुत थोड़ा है, प्रशंसा की मेरे के सिवाय तो इनका नितान्त अभाव है।

(२) मनुष्य अपनी व्यवहारिक शक्ति के होते हुए पशु-पक्षियों पर सम्भवित क्यों रहा ?

आधुनिक विद्वान् इस मत को सर्वथा स्वाभाव्य नहीं मानते, क्योंकि भाष अनेक शब्द अनुकरण के द्वारा उत्पन्न होते हैं।

५. मनोभावाभिव्यंजकतावाद—इसे मनोभावाभिव्यक्तिवाद, मनःप्रेरण वाद तथा पूह-पूह-वाद (Pooh-Pooh) आदि संज्ञाओं से संबोधित किया जा है। इस मत के अनुसार मानव से अन्य प्राणियों की भाँति भावावेग के अव पर सुख, दुःख, आश्चर्य, घृणा आदि को हा, हाय, ओह, पूह, अहह, धि धत्, फाई, छिः आदि जैसे शब्द सहज ही निकल जाया करते हैं। ये ध्वनि मनोवेगों को प्रकट करती हैं। धीरे-धीरे इन्हीं शब्दों से भाषा विकसि हुई।

समीक्षा

ये शब्द न्यून तथा परिमित संख्या में हैं। इन विस्मयादि-बोधक शब्दों क अस्तित्व वाक्य से पृथक् है तथा सभी भाषाओं में एक समान नहीं है। देश काल और परिस्थिति के अनुसार ये भिन्न-भिन्न हैं; जैसे छिः-छिः और फाई फाई। आधुनिक शब्द स्वाभाविक न होकर सांकेतिक है।

६. यो-हे-हो वाद—इसे श्रम-परिहरण-मूलकतावाद कहते हैं। इसके जन्म दाता न्वाइरे (Noire) का मत था कि शारीरिक श्रम का कार्य करते समय श्वास-प्रश्वास की तीव्र गति से स्वर-तन्त्रियों में एक प्रकार का कम्पन होने लगता है। उस समय कुछ ध्वनियाँ उच्चरित होकर मानव के श्रम-परिहार में सहायक होती हैं। प्रायः देखा जाता है कि धोबी वस्त्र धोते हुए 'हियो' या 'छियो' कहते हैं। मल्लाह मकान के लिए 'यो हे-हो' कहते है। भाषा में इनकी संख्या अत्यल्प है, अर्थ की दृष्टि से भी कोई महत्व नहीं है।

७. टा-टा-सिद्धान्त तथा संगीतवाद (Sing-Song Theory)—टा-टा- वाद के अनुसार मानव काम करते समय अनजाने वाले उच्चारण अवयवों से

काम करने वाले व्यक्तियों की ध्वनि का अनुकरण करना था और इस अनुकरण में शब्दों का उच्चारण ही उसका काम था। इन शब्दों से धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ। मनोविज्ञान में भाषा की उत्पत्ति आदिम मानव के भावों से जोड़ी जाती है। यह आदिम मानव भावुक अधिक रहा होगा और संभव है कुतूहल में उसने अव्यक्त भाषा कही हो। ये दोनों सिद्धान्त अनुमान पर अधिक आधारित हैं, उद्भावना पर कम। इन दोनों में शारीरिक संकेत अभिनिवेश आदि अस्पष्ट भाव-प्रकाशन के साधन रहे हैं।

८. विकासवाद का समन्वित रूप—प्रसिद्ध भाषा-विज्ञान-विद् स्वीट् कुछ सिद्धान्तों का समन्वित रूप लेकर भाषा की उत्पत्ति पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। प्रारम्भिक रूप में भाषा भाव-संकेत या इंगित (gesture और ध्वनि-समवाय पर आधारित थी। ध्वनि-समवाय ही शब्दों के विकास का स्रोत माना जाता है। स्वीट ने आदिम भाषा को तीन वर्गों में विभाजित किया था—अनुकरणात्मक शब्द माउ (मियाँ), काक (संस्कृत), कुकू (अंग्रेजी तथा पुष्पू (हिन्दी) आदि हैं। सब भाषाओं में ध्वनि-सादृश्य को स्वीकार किया गया। (२) मनोभावाभिव्यंजक शब्द जैसे—आह, वाह, धिक्, छी. धातुएँ जैसे 'पिव' सं० पू, धिक्कारना आदि। (३) प्रतीकात्मक (Symbolic)—आदिम शब्द-समूह में इन शब्दों का बाहुल्य रहा होगा। संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि अनेक प्रकार के शब्द रहे होंगे।

संज्ञा—बच्चे के द्वारा उच्चरित मामा, पापा शब्दों को माता-पिता अर्थ लिए प्रयुक्त समझ लेते हैं और एक प्रकार से ये भी प्रतीकात्मक ध्वनियों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। धीरे-धीरे पीने में 'सिप' या सप' की ध्वनि अंग्रेजी क्रिया का प्रतीक बन गई। अरबी में 'शरब' और हिन्दी में 'शरबत' संस्कृत में 'पिबति' हिन्दी—पीना ऐसे ही प्रतीक रूप हैं। सर्वनाम में संस्कृत 'त्वम्' ग्रीक 'tó', लैटिन 'tú', हिन्दी 'तू' इसी कोटि में आते हैं।

उपर्युक्त तीन सिद्धान्तों के अभाव में कुछ शब्दों का समाधान उपचार (ध्वनि के मुख्यार्थ का बाध होने पर सदृश अर्थ का बोध) के द्वारा किया गया।

उदाहरणार्थ—अंग्रेजी का पाइप (pipe) आज नल या हुक्के की नली के

प्रकार संस्कृत की √कुप्, √ध्वेड् और √रम् मूलरूप में काँपने, हिलने और स्थिर होने में प्रयुक्त होती थीं, उच्चार से उनका प्रयोग क्रमशः क्रोधित, दुःखित और आनन्दित होने के अर्थ में हो गया।

निष्कर्ष

प्रारम्भ में मनुष्य शब्दों को वाक्यों के रूप में प्रयोग करता था; जैसे रोते हुए बच्चे के 'माँ' उच्चारण करने का तात्पर्य 'माँ मुझे दूध पिला दे' होता था। जैसे-जैसे शब्दकोश बड़ा शारीरिक संकेत कम हो गये। आदि जटिल ध्वनियाँ प्रयत्न-लाघव के अनुसार परिवर्तित होकर सरल तथा सुलभ बन गईं। इस प्रकार सामाजिक विकास के साथ भाषा का विकास हुआ। समाज में व्यवहृत शब्द उत्तम व्याकरण के नियम-निर्माण का साधन बने।

परोक्ष मार्ग

भाषाओं के वर्तमान स्वरूप से ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के फल-स्वरूप भाषा के प्रारंभिक रूप का अनुमान कर लेना परोक्ष मार्ग कहलाता है। वैज्ञानिकों ने भाषा के उद्गम तक पहुँचने के लिए निम्नोक्त रीति से शोध-कार्य किया है—

(१) लड़कों की भाषा से मूल भाषा की प्रकृति जानना।

(२) प्राचीन असभ्य लोगों की भाषा का अध्ययन।

(३) भाषाओं के क्रमिक इतिहास का अध्ययन।

(१) लड़कों की भाषा—व्यक्तिगत अध्ययन से समाजगत या जातिगत विकास की रूपरेखा खींची जा सकती है। इसके आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि आदि मानव ने भी शिशु के भाषा सीखने के ढंग पर भाषा सीखी होगी। शिशु-भाषा का अध्ययन आदि-भाषा के ज्ञान में सहायक हो सकता है। बाल-उद्गार तथा क्रीड़ाएँ प्राकृतिक होती हैं परन्तु शिशु के सम्मुख भी माता-पिता तथा समाज की भाषा रहती है, जिसका वह सहज में ही अनुकरण कर सकता है।

(२) असभ्य जातियों की भाषा—संसार के कुछ अविकसित तथा असभ्य प्रदेशों में कुछ जातियाँ प्रारम्भिक अवस्था में ही रह रही हैं। संभवतः आधुनिक

वर्गियों पर भी आधुनिक प्रभाव पड़ा हो। अतः यह अध्ययन भी केवल अनुमान का विषय है।

(३) भाषागत ऐतिहासिक खोज—यह पद्धति सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। साहित्यिक भाषा से आदि भाषा का न्यूनाधिक परिचय मिल जाता है। उदाहरण-स्वरूप हिन्दी से अपभ्रंश, प्राकृत, संस्कृत तथा अवेस्ता के क्रमिक अध्ययन से यह कुछ न कुछ आदि भाषा के सम्बन्ध में अनुमान लगा सकता है।

अन्त में सारांश यह है कि विकासवाद के समन्वित सिद्धान्त से भाषा की उत्पत्ति की उद्भावना को अधिकांश आधुनिक विद्वानों ने स्वीकार किया है। अतः यही मत अधिक तर्कसंगत है।

भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी स्मरणीय पद्य—

ईश्वर, इंगित, बाऊ बाऊ; मनःप्रेरणा, धातु।
यो-हे-हो, डिंगडांग दल, विकसित. मिलकर वातु॥

प्रश्न ७—'एक भाषा-विज्ञानी के लिए साहित्यिक भाषा की अपेक्षा बोलियाँ अधिक महत्वपूर्ण हैं।' आलोचना करते हुए बोली, विभाषा, भाषा और राष्ट्रभाषा का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

भाषा

भाषा विचार-विनिमय का साधन है। प्रायः भाषा मनुष्य के स्फुट तथा साभिप्राय ध्वनि-संकेतों का नाम है। सामान्य रूप से इसकी परिभाषा यह है कि 'विचारों की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों के व्यवहार को भाषा कहते है।' सृष्टि के आदि-काल से विचारों की यह अभिव्यक्ति होती रही है तथा उसकी धारा अविच्छिन्न रूप से निरन्तर गति के साथ प्रवाहित होती रहेगी। प्राणी की भावाभिव्यक्ति का महत्वपूर्ण अंग होने के कारण मानव के साथ उसका घनिष्ट सम्बन्ध है। भाषा मानव के आन्तरिक विचारों का बाह्य कलेवर है। इसकी अन्य परिभाषा इस प्रकार है, 'मनुष्य-मनुष्य के बीच, वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए

व्यक्त-ध्वनि-संकेतों का जो व्यवहार होता है उसे भाषा कहते हैं।' वक्ता और श्रोता दोनों के विचारों की अभिव्यक्ति का साधन है। दो इससे सामाजिक होते हैं। भाषा समाज-सापेक्ष वस्तु है। समाज में ही आदान-प्रदान के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। व्यवहार रूप में सार्थक ध्वनि-संकेतों का समाहार है। व्यापक अर्थ में भाव-प्रदान के माध्यमों—इंगित या संकेत, स्वर-विकार, भाव-भंगिमा, वस्त्र और प्रभा भाषा ही कहा जायेगा परन्तु परिभाषा रूप में समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहृत ध्वनियों के लिए ही भाषा का प्रयोग किया जाता है। पशु-पक्षी की भावाभिव्यक्ति इसका विषय है।

भाषा अनेक अर्थों में व्यवहृत होती है। सामान्य बोली को भी भ कहते हैं; जैसे गूंगे के पास भाषा नहीं है। इसका प्रयोग सामान्य भाषा के भी होता है। संसार की अनेक भाषाओं का वर्गीकरण किया गया है। वं के अर्थ में भी भाषा प्रयुक्त होती है; जैसे उसकी भाषा बुन्देली है। भा विज्ञान के पाठकों के लिए भाषा का महत्व कम नहीं है। संसार की सम भाषाओं को कुछ परिवारों में विभाजित कर दिया गया है। प्रत्येक परि में भाषा-वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग में कुछ सजातीय भाषाएँ हैं। प्रत्येक भाषा अन्तर्गत अनेक विभाषाएँ हैं और तदनन्तर बोलियाँ। अतः भाषा, विभा और बोलियाँ ही भाषा-विज्ञान के अध्ययन का प्रमुख विषय हैं।

बोली

सबसे प्रथम हम बोली को लेते हैं। बोलियों के एक प्रकार से समुचि विकास का नाम ही विभाषा तथा भाषा है। बोलचाल में प्रयुक्त होने वा भाषा के स्थानीय रूप को बोली कहते हैं। दूसरे रूप में इसे घरू बोली भी कहते हैं क्योंकि यह घर या समाज में भावों के आदान-प्रदान के काम आत है। कुछ भी अंशों में यह साहित्यिक नहीं कही जा सकती। इसका क्षे छोटा होता है। डा० भोलानाथ तिवारी ने बोली की परिभाषा इस प्रकार दं —"बोली किसी भाषा के एक ऐसे सीमित क्षेत्रीय रूप को कहते हैं, जं ध्वनि, रूप, वाक्य-गठन, अर्थ, शब्द-समूह तथा मुहावरे आदि की दृष्टि से उस भाषा के परिनिष्ठित तथा अन्य क्षेत्रीय रूपों से भिन्न होती है, किन्तु

इतना भिन्न नहीं कि अन्य क्षेत्रों के बोलने वाले उसे समझ न सकें।"

विभाषा

किसी स्थानीय बोली में उच्च साहित्य का निर्माण होने लगता है तो उसका क्षेत्र अधिक व्यापक और विस्तृत हो जाता है, उस दशा में उसे 'विभाषा' कहते हैं। यह विभाषा 'उपभाषा' भी कहलाती है। विभाषा की सीमा अपने प्रान्त तक ही सीमित रहती है। इस प्रकार यह प्रान्त भर की बोल-चाल तथा साहित्य के विचार-विनिमय का माध्यम रहता है। ब्रज, अवधी, भोजपुरी मैथिली आदि विभाषाएँ तथा प्रान्तीय भाषाएँ हैं।

राष्ट्र भाषा

जब एक बोली या विभाषा का क्षेत्र व्यापक हो जाता है और उसका प्रयोग पूरे क्षेत्र से सबंधित कार्यों के लिए होता है तथा अधिक उन्नत होकर महत्वपूर्ण बन जाती है तब धीरे-धीरे वह राष्ट्र-भाषा का पद ग्रहण कर लेती है। ऐसी आदर्श भाषा ही एक देश की प्रतिनिधि भाषा हो जाती है तथा आस-पास की विभाषा तथा बोलियो पर उसका अत्यधिक प्रभाव पड़ता है इस प्रकार की भाषा सम्पूर्ण राष्ट्र या देश में तथा अन्य भाषा क्षेत्र में भी उसका प्रयोग सार्वजनिक कामों आदि में होने लगता है तो वह राष्ट्र-भाषा के किरीट को धारण कर अन्य भाषाओं की साम्राज्ञी बन जाती है। आज की खड़ी बोली ने ब्रज, अवधी और भोजपुरी सभी को प्रभावित किया है। व अपने परिवार के अहिन्दी प्रान्तो (राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल आदि में भी धीरे-धीरे व्यवहृत की जा रही है।

भाषा बोली आदि में परस्पर अन्तर

एक भाषा के अन्तर्गत कई बोलियाँ होती हैं। बोली का क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा और भाषा का बड़ा होता है। बोली का साहित्यिक रूप ही विभाषा या उपभाषा कहलाता है। जब एक विशिष्ट उपभाषा उन्नत और प्रभावशाली होकर राष्ट्र-व्यापी बन जाती है तो राष्ट्रभाषा का रूप धारण कर लेती है इसमें देश की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक परिस्थितियों का योग होता है

बोलियों के महत्वप्राप्ति के कारण—१. कुछ बोलियाँ अन्य बोलियों

मुख हो जाने के कारण महत्वपूर्ण समझी जाती है तो भाषा कहलाती है, तथा 'हाथ' तथा 'पुस्तक' भाषा।

२. साहित्य की संपन्नता के कारण बोलियाँ महत्वपूर्ण हो जाती हैं। तथा बंगला।

३. धार्मिक संपन्नता से भी बोली का महत्व बढ़ जाता है। 'राम' और 'कृष्ण' की भक्ति के प्रचार ने अवधी और ब्रज को अधिक महत्व दिया तथा वे साहित्य की साहित्यिक भाषाएँ बनीं।

४. विकसित समाज तथा बोलने वालों के कारण बोली महत्वपूर्ण बन जाती है। तथा उर्दू भी आज एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है।

५. राजनीति बोली के प्रमुख एवं महत्वपूर्ण होने का विशेष कारण है। राजनीति के केन्द्र की बोली विकसित तथा समृद्ध होकर भाषा का रूप ग्रहण कर लेती है। दिल्ली-मेरठ के आसपास की खड़ी बोली ने अवधी, ब्रज जैसी विकसित भाषाओं को दबाकर राष्ट्र-भाषा का पद प्राप्त किया है। अन्य उदाहरण पेरिस की फ्रेंच तथा लन्दन की अंग्रेजी बोलियाँ हैं।

भाषा-शास्त्री के लिए बोली का अपेक्षाकृत अधिक महत्व है। साहित्यिक भाषा से भाषावेत्ता के लिए बोली का अधिक महत्व है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि बोली की स्थिति स्वाभाविक तथा प्राकृतिक होती है और उसका विकास भी स्वाभाविक होता है। साहित्यिक भाषा सदैव व्याकरण के नियम तथा उपनियमों में बँध जाती है और उसकी नैसर्गिक गति और स्वाभाविक विकास रुक जाता है। साहित्यिक भाषा बन्धन में बँध कर अपनी गति मंद कर देती है। व्याकरण के दृढ़ बंधन के कारण भाषा का प्रवाह रुक जाता है और इस प्रकार भाषा की प्रकृति मर जाती है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। जहाँ परिवर्तन रुका भाषा का वहीं अन्त हुआ। समाज परिवर्तनशील है अतः एक भाषा-विद् भी परिवर्तनशील समाज की स्वाभाविक भाषा का अध्ययन करना चाहता है, जिससे वह भाषा के नैसर्गिक रूप का अध्ययन कर भाषा की प्रकृति, प्रवृत्ति तथा उसके विकास के सम्बन्ध में परिचित हो जाय और अपने सिद्धान्तों का सहज ही विवेचन कर सके।

प्रश्न ८—भाषा परिवर्तनशील क्यों कही जाती है परिवर्तन के मुख्य-मुख्य कारणों की विवेचना उदाहरण सहित कीजिए।

उत्तर

भाषा के बाह्य तथा आभ्यन्तर रूपों में विकास और परिवर्तन के कारणों पर प्रकाश डालिए।

भाषा के बाह्य-रूप में दृश्यित परिवर्तन हो रहा है। प्रत्येक वस्तु ही अपना स्वतंत्र अस्तित्व, अवस्था तथा दर्शन में भी उसे उसे परिवर्तन दृष्टिगत होता है। किसी वस्तु के परिवर्तन का हमें आभास बिल्कुल नहीं होता है क्योंकि यह परिवर्तन अति सूक्ष्म होता है परन्तु कभी-कभी इसका परिवर्तन काल-पर में दृष्टिगत होता है। किसी अवस्था पर हम उसके आकार का दर्शन कर पाते हैं। परिवर्तन के इस आभ्यन्तर रूप में भाषा भी अन्तर्हित है। अतएव भाषा में परिवर्तन ही उसका विकास है। परिवर्तनशीलता की प्रवृत्तिमूलता अमूर्त और अमोघ है। यह विकास भाषा के समस्त रूपों में होता है। ध्वनि, पद, रूप, अर्थ और वाक्य भी भाषा के परिवर्तन-चक्र के अरे (Spokes) हैं। इनमें भी चक्र की गति के साथ परिवर्तन होता रहता है। भाषा परम्परागत वस्तु है। उसकी धारा प्रवाहित तथा परिवर्तनशील होने पर भी स्थायी और नित्य है। वह अपने एक उद्गम स्थान से सृष्टि के आदिकाल से लेकर अब तक एकता के आधार पर अविच्छिन्न रूप से बह रही है। कालान्तर में यह भाषा अपने आदि स्वरूप से इतनी परिवर्तित हो गई है कि उसके प्राचीन और अर्वाचीन रूप में जमीन-आसमान का अन्तर दिखाई देता है।, कहाँ वैदिक संस्कृत और कहाँ आज की हिन्दी!

भाषा के इस परिवर्तन को ही विकास कहते हैं। वैयाकरण इसे ह्रास, स्खलन तथा अपभ्रष्ट या बिगड़े हुए रूप के नाम से पुकारते हैं। परन्तु भाषा-विज्ञानवेत्ता अपनी सुधार दृष्टि के कारण विकास की संज्ञा से विभूषित करते हैं। विकास का अर्थ भाषा की उन्नत या परिमार्जित अवस्था नहीं है, वरन् नवीनता का परिणाम मात्र है। जिस प्रकार मानव की अवस्थाओं की परिपक्वता का विकास होता है उसी प्रकार भाषा की दशाओं का विकास होता है।

[illegible]

[illegible]

भाषा शास्त्री के लिए बोली का अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व है। साहित्यिक भाषा से भाषावेत्ता के लिए बोली का अधिक महत्त्व है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि बोली की स्थिति स्वाभाविक तथा प्राकृतिक होती है और उसका विकास भी स्वाभाविक होता है। साहित्यिक भाषा सदैव व्याकरण के नियम तथा उपनियमों से बंध जाती है और उसकी नैसर्गिक गति और स्वाभाविक विकास रुक जाता है। साहित्यिक भाषा बन्धन से बंध कर अपनी गति मन्द कर देती है। व्याकरण के दृढ़ बंधन के कारण भाषा का प्रवाह रुक जाता है और इस प्रकार ही भाषा की प्रकृति मर जाती है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। जहाँ परिवर्तन रुका भाषा का वहीं अन्त हुआ। समाज परिवर्तनशील है अतः एक भाषा-विद् भी परिवर्तनशील समाज की स्वाभाविक भाषा का अध्ययन करना चाहता है, जिससे वह भाषा के नैसर्गिक रूप का अध्ययन कर भाषा की प्रकृति, प्रवृत्ति तथा उसके विकास के सम्बन्ध में परिचित हो [illegible] और अपने सिद्धान्तों का [illegible]

होती है। जैसे आम्रवृक्ष में 'म्र' पर बल है अतः आरम्भ का 'अ' समाप्त होकर 'आँब' बन गया। बाजार में बजार तथा उपाध्याय से 'झा' इस प्रकार के रूप हैं। सन्धि के आँबार तथा झजार दो रूप समाधान के ही फलस्वरूप हैं,

(३) प्रयत्न लाघव या सुख-सुख—यह कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि भाषा में ६० प्रतिशत परिवर्तन इसी के आधार पर होते हैं। यह मानव की सहज प्रवृत्ति है कि वह कम से कम में अधिक कार्य की सिद्धि करना चाहता है। इसी प्रयत्न लाघव (श्रम प्रलाग) के प्रयोग के द्वारा वक्ता सरलता के लिए शब्द को लघु या सहज उच्चरित बना डालते हैं। इस तरह शब्दों का दीर्घाकार रूप संक्षिप्त और सहज रूप में परिवर्तित हो जाता है। उच्चारण की दृष्टि से शब्दों को सहज और मधुर बना देना ही 'सुख-सुख' है। इस प्रकार प्राय. व्यक्तिवाचक संज्ञाये, सर्वनाम तथा अभिवादन के शब्द विकसित होकर लघु रूप धारण कर लेते हैं।

उदाहरणार्थ—अनाज से नाज एकादश से ग्यारह (स्वर-लोप), स्थान से थान (व्यञ्जन-लोप), स्काउट से इस्काउट, कृपा से किरपा (स्वरागम), अस्थि से हड्डी (व्यञ्जनागम), वाराणसी से बनारस (वर्ण-विपर्यय), शर्करा से शक्कर, कलक्टर से कलट्टर (समीकरण), काक से काग (विषमीकरण), उष्ट्र से ऊँट, श्याम से साँम (अकारण अनुनासिकता) आदि।

(४) भावातिरेक—यह भी प्रयत्न लाघव का एक प्रकार से भेद है। भाव के आधिक्य तथा स्नेहाभिभूति से ध्वनि का रूप विकृत हो जाता है। इसमें अतिशय तथा दाम्पत्य प्रेम का अधिक प्रयोग होता है, 'कृष्ण का 'कन्हैया' या 'कान्हा', 'पाँव' का 'पइयाँ', बाँह का 'बहियाँ' आदि।

(५) मानसिक स्तर—भाषा प्रयोक्ता के मानसिक स्तर में परिवर्तन होने से विचारों में परिवर्तन हो जाता है। विचारों की अभिव्यंजना भाषा के माध्यम से होती है। अतः भाषा में भी परिवर्तन हो जाता है। किसी जाति अथवा देश की मानसिक अवस्था की उच्चता तथा निम्नता की कल्पना से भाषा में अन्तर हो जाता है। यथा—जर्मन विद्वान् जर्मनी को अंग्रेजी से अधिक सौष्ठव-संयुक्त तथा गति-शील मानते हैं। बंगाली भाषा संयुक्त व्यंजनों की हीनता के कारण मधुर तथा स्त्रीत्व से सुन्दर है। यह मानसिक अवस्था का

हरण इंजन, रायबरेली (लाइबेरी), रपट (रिपोर्ट),(साईं) लाट, टेम (टाइम) सिगल (सिगनल) आदि हैं।

(ख) बाह्यवर्ग

बाह्य वर्ग में बाहर से भाषा पर प्रभाव डालने वाले तत्व आते हैं।

(७) भौतिक वातावरण—एक परिवार में अनेक भाषाएँ और एक भाषा में अनेक बोलियाँ बनने का प्रभावशील कारण भौतिक तथा प्राकृतिक वातावरण है। शीत तथा उष्णता की न्यूनता तथा अधिक्य से जीविका, स्वभाव, रहन-सहन, आचरण आदि पर प्रभाव पड़ता है और भाषा इन सभी वस्तुओं पर आधारित है। मैदान में आवागमन सरल होने के कारण तथा सम्पर्क के कारण भाषा में एकरूपता रहती है जबकि पहाड़ी भागों में आवागमन की सुविधा तथा सहज सम्पर्क के अभाव में अनेक भाषा तथा बोलियों का विकास पृथक्-पृथक् रूप से होता है। अतः पर्वतीय प्रदेश में थोड़ी दूर पर ही भाषा में अन्तर पड़ जाता है। उपजाऊ भूमि में वास करने वालों की भाषा अधिक उन्नत तथा समृद्ध होगी और उसमें एक प्रकार की दार्शनिकता, गम्भीरता, तथा व्यंजना रहेगी, क्योंकि खाद्य सामग्री के आधिक्य से लोगों को उन्नति करने का समय मिलेगा। जैसे भारत और यूनान में भाषा की गूढ़ता का दर्शन होता है। इसके विरुद्ध पर्वतीय या जंगली लोगों की भाषा में इस प्रकार का विकास नहीं होता। अतः भौतिक परिस्थितियाँ भी भाषा के विकास पर प्रभाव डालती हैं।

(८) सांस्कृतिक सम्मिलन तथा प्रभाव—संस्कृति समाज का प्राण है। अतः इसके प्रभाव से भी भाषा में परिवर्तन आ जाता है।

(९) किसी राष्ट्र की सांस्कृतिक संस्थाओं से प्रभावित होकर दूसरों का पुनरागमन हो जाता है। इस परिणामतः विचार तथा अभिव्यक्ति-शैली में परिवर्तन हो जाता है। यह स्पष्ट है कि १९वीं शताब्दी से लेकर आधुनिक काल पर्यन्त हिन्दी भाषा में आर्य-संस्कृति के विकास के कारण अनेक अंग्रेज लेखकों ने अपना अमिट स्थान बना लिया है।

(१०) व्यक्तियों के महान् व्यक्तित्व के प्रभाव से भाषा में परिवर्तन हो जाता है। कवि, लेखक, नेता तथा विद्वान् पुरुषों के द्वारा प्रयुक्त अनेक शब्द

घातक है कि मद्रासी कठिन-से-कठिन व्यंजन को शीघ्रता से खटाखट बोल जाता है।

(९) अनुकरण की अपूर्णता—भाषा एक परम्परा तथा अर्जित सम्पत्ति है। अनुकरण के द्वारा मनुष्य भाषा को सीखता है। सम्यक् तथा शुद्ध अनुकरण की स्थिति में भाषा में न्यूनतम परिवर्तन होता है परन्तु अनुकरण की अपूर्णता में उच्चारण में अन्तर आ जाता है और फलस्वरूप ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है। यह अपूर्ण तथा अशुद्ध अनुकरण की प्रवृत्ति का स्पष्ट दर्शन प्रायः आठ-दस पीढ़ी के अनन्तर होता है। इससे एक भाषा चिरकाल में एक बड़े अंश में विकसित या परिवर्तित हो जाती है।

अनुकरण की अपूर्णता निम्न कारणों से होती है—

(क) शारीरिक विभिन्नता—उच्चारण अंग तथा आस्य-प्रयत्नों के समान न होने के कारण से अनुकरण पूर्ण तथा शुद्ध नहीं हो पाता और कुछ काल के अनन्तर भाषा में परिवर्तन हो जाता है। एक व्यक्ति का शरीर अन्य व्यक्ति के शरीर से गठन तथा संस्थान की दृष्टि से पृथक् होता है। तदनुसार मस्तिष्क के झुकाव तथा उच्चारण अंग की भिन्नता से 'ध्वनि-उच्चारण' में भी अन्तर आ जाता है। कुछ विद्वानों ने इसका खंडन भी किया और कहा कि भारतीय सन्तान यूरोप में शुद्ध अंग्रेजी बोलते हैं। परन्तु भाषा के गठन आदि में कोई भेद नहीं पैदा होता। यह निश्चित है कि पीढ़ी दर पीढ़ी भाषा में भिन्नता अवश्य आ जाती है।

(ख) ध्यान की कमी—यह ध्यान की कमी आलस्य तथा प्रमादवश होती है। उचित ध्यान न देने से उच्चारण के अनुकरण में भिन्नता आ जाती है जो कालान्तर में भाषा-परिवर्तन का कारण बन जाती है।

(ग) अशिक्षा तथा अज्ञान—इन दोनों के कारण से भी अनुकरण उचित रूप से पूर्ण नहीं हो पाता है। इसके अन्तर्गत देशी-विदेशी दोनों ही शब्द आ जाते हैं। उदाहरणार्थ—देस से देश (स>श), तृष्णा का तिसना (ष>स) गुण का गुन, कर्ण का कान (ण>न), शिक्षा का सिच्छा, क्षत्रिय का छत्री, (क्ष ⁄ छ), ऋण का रिन, ऋषि का रिसि (ऋ का रि) आदि प्रयत्न लाघव के साथ ही साथ अज्ञान तथा अशिक्षा के कारण भी हो जाते हैं। अन्य —

स्वभावतः सरलता का प्रेमी होता है। उसका यह स्वभाव भाषा में भी कार्य करता है। वह एक शब्द को किसी अन्य शब्द की सदृश्यता या रूप-समानता के अनुरूप ढाल लेता है और इस प्रकार शब्द के मूल रूप में परिवर्तन हो जाता है। आगे यह परिवर्तित रूप प्रचलित हो जाता है। जैसे संस्कृत में 'द्वादश' के प्रभाव पर 'एकादश' को 'एकादश' बना लिया है। सैंतीस और सैंतालीस की अनुनासिकता पैंतीस और पैंतालीस के सादृश्य पर ही आधारित है। पाश्चात्य ने सादृश्य पर पौर्वात्य तथा निर्गुण के सादृश्य पर सगुण हो गया है। सादृश्य स्मृति के आधार पर अनेक प्रकार से अपना कार्य करता है।

उपर्युक्त दृष्टि-बिन्दुओं के आधार पर ही भाषा का विकास होता है। विकास का अर्थ कुछ न होकर परिवर्तन मात्र ही है। भाषा-शास्त्री विकास का अर्थ भाषा की अंतिम अवस्था अनुमान निश्चित करते हैं।

प्रश्न ९—दो भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध को निर्धारण करने के प्रमुख तत्वों का उल्लेख करते हुए भाषा-विभाजन की विभिन्न पद्धतियों के गुण-दोषों का विवेचन कीजिये।

यह संसार अनेकानेक भाषा तथा बोलियों का सागर है। थोड़ी सी ही दूरी पर भाषा में परिवर्तन दृष्टिगत होता है। कहावत भी है 'चार कोस पर पानी बदले, आठ कोस पर बानी'। इस भाषा के अदूर परिवर्तन के कारण से भाषा-वैज्ञानों ने संसार में बोली जाने वाली भाषाओं की संख्या २७९६ आंकी है तथा अनेक भाषाओं की गणना का प्रयत्न भी किया जा रहा है।

संसार में भाषा-विभाजन की अनेक पद्धतियों को अपनाया गया है। प्रमुख रूप से प्रमुख आधार अधोलिखित है—

(१) महाद्वीप के आधार पर भी अनेक विद्वानों ने भाषा के विभाजन का प्रयत्न किया है—जैसे एशियाई भाषाएँ, यूरोपीय भाषाएँ, अफ्रीकी भाषाएँ आदि।

(२) देश के आधार पर भी भाषा-विभाजन किया जाता है—यथा भारतीय भाषाएँ, चीनी भाषाएँ आदि।

(३) काल के आधार पर भी भाषा को विभाजित किया जाता है—जैसे

भाषा की शैली और वाक्य-गठन पर अपना प्रभाव डालते हैं। गोस्वामी तुलसी दास के काव्य ने उत्तरी भारत की भाषा, समाज तथा धर्म पर अमिट प्रभाव डाला तथा उनकी शैली का अनुकरण अनेक परवर्ती कवियों ने किया।

(ग) सांस्कृतिक सम्मिलन—कभी-कभी दो विभिन्न संस्कृतियों का मेल व्यापार, धर्मप्रचार, राजनीतिक कारणों से हो जाता है और उनका भाषा तथा शब्दों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। भारत में ही आस्ट्रिक-द्रविड़, द्रविड़-आर्य, आर्य-यवन, भारतीय-मुसलमान तथा भारत-यूरोप के सांस्कृतिक सम्मिलन ने हिन्दी भाषा को अधिकांश रूप में परिवर्तित कर दिया है। उदाहरणार्थ हिन्दी में गंगा (आस्ट्रिक) नीर (द्रविड़), दाम (यवन), कमीज बाजार, (तुर्क) आदि के शब्द आ गये हैं।

(घ) सामाजिक व्यवस्था—भाषा को परिवर्तित करने का एक प्रमुख कारण सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियां भी हैं। अशांति तथा युद्ध के समय में भाषा में द्रुतगति से परिवर्तन होता है। सामाजिक क्रांति या परिवर्तन प्रत्येक देशवासी के विचार तथा संस्कृति में परिवर्तन ला देता है। भाषा गत रूढ़ियां लुप्त होकर कुछ नवीन शब्द-रचना का श्रीगणेश करती हैं। समय की न्यूनता हमें भाषा के संक्षिप्त रूप की ओर आकृष्ट करती है यूनेस्को, सीटो, नेफा आदि इसी प्रकार के रूप हैं। समाज तथा राष्ट्र की शांति के समय भाषा में स्थिरता लालित्य तथा एक प्रकार की कलात्मकता का समावेश रहता है।

(१०) भाषा भावियों की उन्नति—राष्ट्र या देश के जन-जीवन के उन्नत स्तर के कारण भाषा में विकास हो जाता है। आधुनिक युग में वैज्ञानिक तथा भौतिक उन्नति के कारण से नई उन्नति के अनुरूप नई अभिव्यंजना प्रणाली का विकास हो जाता है और प्राचीन शब्दों में भी नवीन अर्थ का समावेश हो जाता है। दूसरे मशीन, रहन-सहन के साधन तथा अन्य वस्तुओं के निर्माण के कारण नये शब्दों का निर्माण हो जाता है। भारतीय भाषाएं भी वैज्ञानिक उन्नति के फलस्वरूप अधिक व्यापक और उन्नत हो रही हैं।

(११) सादृश्य—सादृश्य भाषा के आभ्यन्तर तथा बाह्य दोनों ही कारणों में रखा जा सकता है। भाषा परिवर्तन में सादृश्य का पर्याप्त महत्व है। मानव

उद्गम के अनुसार। पहला आकृति-मूलक तथा दूसरा पारिवारिक वर्गीकरण कहा जाता है। इन दोनों प्रकार के वर्गीकरणों में हमें विशेषतः तीन तत्वों पर ध्यान देना पड़ता है—(१) अर्थ-तत्व, (२) सम्बन्ध-तत्व तथा (३) शब्द-भण्डार।

दो भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध को निर्धारित करने के ये तीन ही प्रमुख तत्व हैं जिन पर दृष्टिपात करना परम अपेक्षणीय है।

अर्थ-तत्व और सम्बन्ध तत्व

वाक्य का महत्व तथा अर्थ दो वस्तुओं पर आधारित है। एक है 'अर्थ-तत्व' और दूसरा 'सम्बन्ध-तत्व'। 'कृष्ण ने कंस को मारा' यह एक वाक्य है। इसमें 'कृष्ण' 'कंस' और 'मारना' ये अर्थ-तत्व हैं क्योंकि इनसे अर्थ का बोध होता है तथा ने, को और मारा का 'आ' ये सम्बन्ध-तत्व हैं। क्योंकि इनसे एक अर्थ-तत्व का दूसरे अर्थ-तत्व से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। अतः पद-रचना की दृष्टि से सम्बन्ध-तत्व का अस्तित्व महत्वपूर्ण है। इन्हीं सम्बन्ध-तत्वों के आधार पर अर्थ-तत्वों का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट होता है कि कृष्ण ने मारा, कंस मारा गया, कृष्ण नहीं तथा भूतकाल में मारा गया। इन सम्बन्ध तत्वों के संयोग से वाक्य का पूर्ण अर्थ समक्ष में आ गया। उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि वाक्य में सम्बन्ध तथा अर्थ-तत्व दोनों ही आवश्यक हैं। सम्बन्ध-तत्व एक रूप में प्रायः सम्बन्ध का बोध कराते हैं जबकि अर्थ तत्व बदल जाता है। कृष्ण के स्थान पर राम और कंस के स्थान पर रावण हो जाने से सम्बन्ध-तत्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

पद की रचना या सम्बन्ध तत्व का सम्बन्ध व्याकरण या भाषा की रूप-रचना से है। अब सम्बन्ध-तत्व या वैयाकरणिक साम्य पर आधारित वर्गीकरण आकृतिमूलक या रूपात्मक के नाम से अभिहित किया जाता है। इस तरह की रूप-रचना पद्धति के अनुसार भाषा कितने कितने भागों तक वर्ग में बाँटी जाती है। इस वर्गीकरण का सम्बन्ध शब्द से है। शब्द रूपों के आधार पर होते हैं।

पारिवारिक वर्गीकरण में सम्बन्ध-तत्व के साथ अर्थ-तत्व की रूप-रचना पर ध्यान दिया जाता है। इस वर्गीकरण में अभिहित शब्द भण्डार की

प्रागैतिहासिक भाषाएँ, प्राचीन भाषाएँ, मध्ययुगीन भाषाएँ तथा आधुनिक भाषाएँ आदि।

(४) धर्म का आधार भी भाषा-विभाजन की एक पद्धति माना जाता है, परन्तु इनका महत्व अधिक नहीं है—यथा हिन्दू भाषाएँ, मुसलमानी भाषाएँ ईसाई भाषाएँ आदि।

(५) प्रभाव के आधार पर ही भाषा-विभाजन विचारणीय है तथा अनेक दृष्टियों से इस पर विविध रूप से विचार भी किया गया है। जैसे संस्कृत प्रभावित भाषाएँ तथा फारसी प्रभावित भाषाएँ आदि। यह पद्धति अब अपनी शैशवावस्था में है। इस प्रकार के अध्ययन से भी भाषा-विषयक बहुत सुन्दर निष्कर्ष प्रकाश में लाये जा सकते हैं।

(६) भाषाओं की आकृति के आधार पर संसार की भाषाओं का वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक समझा जाता है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह अत्यंत महत्वपूर्ण है। जैसे—योगात्मक तथा अयोगात्मक भाषाएँ।

(७) परिवार या वंश के आधार पर संसार की भाषाओं का विभाजन भी भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में अपना अधिक महत्व रखता है। इस आधार पर वर्गीकरण करते समय संसार की भाषाओं को कुछ वर्गों या परिवारों में विभाजित कर उनका विवेचनात्मक अध्ययन किया जाता है। यथा—भारोपीय परिवार की भाषाएँ, एकाक्षर परिवार की भाषाएँ, द्रविड़ परिवार की भाषाएँ आदि।

उपर्युक्त आधारों में भाषा-विज्ञान की दृष्टि से आकृति-मूलक तथा पारिवारिक ही अपना अधिक महत्व रखते हैं।

प्रभाव के आधार पर वर्गीकरण को भी कुछ विद्वान अधिक उपयोगी मानते हैं क्योंकि दो ऐसी भाषाओं में जो आकृति-मूलक या पारिवारिक दृष्टि से एक दूसरे के समीप नहीं हैं, प्रभाव की दृष्टि से एक दूसरे के निकट आ जाती हैं और उनका तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ हिन्दी और तामिल में अन्तिम दो दृष्टियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु दोनों में शब्द-समूह और ध्वनि की दृष्टि से पर्याप्त साम्य है क्योंकि दोनों पर संस्कृत का अमिट प्रभाव पड़ा है।

प्रायः भाषाओं का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जाता है—एक भाषा के आकार, रूप, गठन और स्वभाव के अनुसार तथा दूसरा उसके इतिहास और

(क) अयोगात्मक या निरवयव भाषाएँ (Isolating)
(ख) योगात्मक या सावयव भाषाएँ (Agglutinating)।

(१) अयोगात्मक भाषाएँ

अयोगात्मक भाषाओं को निरवयव भाषाएँ भी कहते हैं। यहाँ 'अयोग' का अर्थ यह है कि शब्दों में उपसर्ग या प्रत्यय जोड़कर रूप-रचना नहीं की जाती है अपितु इस पद्धति में प्रत्येक शब्द की अपनी स्वतन्त्र सत्ता वर्तमान रहती है। इसमें दूसरे शब्दों के कारण विकार या परिवर्तन नहीं होता है। शब्द को पृथक्-पृथक् स्थिति के द्वारा ही अर्थ-तत्व और सम्बन्ध-तत्व का ज्ञान होता है। स्थान-परिवर्तन से ही अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है। इसलिए इन भाषाओं को 'स्थान-प्रधान' भी कहते हैं। इस वर्ग की सर्वप्रधान तथा प्रतिनिधि भाषा चीनी है। उद्देश्य और विधेय आदि का सम्बन्ध-ज्ञान स्थान या स्वर परिवर्तन के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। काल-रचना या कारक-रचना के सम्बन्ध कोई व्याकरण की नहीं नियम नहीं है। एक ही शब्द स्थान-भेद तथा वाक्य में प्रयोग के आधार पर संज्ञा, विशेषण, क्रिया तथा क्रिया-विशेषण आदि शब्द में बिना किसी परिवर्तन के हो सकता है। जैसे चीनी भाषा में—

(१) 'ता लेन'=बड़ा आदमी।
'लेन ता'=आदमी बड़ा (है)।
(२) 'ङो त नि'=मैं मारता हूँ तुम्हें।
'नि त ङो'=तुम मारते हो मुझे।

उपर्युक्त उदाहरण में स्थान-भेद से अर्थ में परिवर्तन उपस्थित हो गया है। स्वर-भेद से एक ही अक्षर 'य' का अर्थ 'ब ब ब ब' वाक्य में 'चीन महिलाओं में राजा के कृपा-पात्र के कान उमेठें' हो गया है। चीनी के अतिरिक्त अफ्रीका की सूडानी, *बिब्बनी, बर्मी, अनामी, स्यामी तथा मलय आदि भाषाएँ अधिकांशतः इसी वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। डा० श्यामसुन्दर ने इसको व्यास-प्रधान कहा है। इन भाषाओं के अन्य नाम एकाक्षर, एकाच्, धातु प्रधान निरिन्द्रिय निरयोग तथा निपात-प्रधान भी हैं।

(२) योगात्मक भाषाएँ

योगात्मक या सावयव (Organic) भाषाओं में अर्थ-तत्व तथा सम्बन्ध-

समानता का भी विवेचन किया जाता है। ये तीनों तत्वों की समानता हो दो या अधिक भाषाओं को एक परिवार में रखने का एक माप-दण्ड है।

गुण-दोष

उपरोक्त सातों प्रमाणियों में अनेक गुण और दोष हैं। काल या स्थान की दृष्टि से वर्गीकरण में औचित्य नहीं आ पाता है। एक छोटे परिवार के उप-विभाजन में ये सहायक हो सकते हैं न कि संसार के भाषा-विभाजन के लिए। प्रभाव के आधार पर वर्गीकरण का अभी समुचित विकास नहीं हो पाया है। आकृतिमूलक वर्गीकरण वैज्ञानिक है परन्तु दोष यह है कि अनेक असम्बद्ध भाषाएँ भी एक ही वर्ग में समुहीत हो जाती है और भाषा-विज्ञान के छात्र को उसके अध्ययन में कठिनाई अनुभव होती है। पारिवारिक वर्गीकरण में इस दोष का समाधान मिल जाता है क्योंकि उसमें एक ही मूल से शब्द-भण्डार के तारतम्य से सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है।

प्रश्न १०—भाषा का आकृतिमूलक या शब्द-रचना की दृष्टि से वर्गीकरण कीजिए। इस वर्गीकरण की उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

भाषा के आकृतिमूलक वर्गीकरण के अन्य नाम रूपात्मक, रचनात्मक, व्याकरणिक, वाक्यात्मक, वाक्यमूलक, रूपाश्रित पदात्मक, पदाश्रित तथा व्याकरणिक हैं। इस वर्गीकरण का आधार सम्बन्ध-तत्व या पद-रचना की शैली है। पद-रचना तथा सम्बन्ध-तत्व की समानता का दिग्दर्शन करने के पश्चात् ही रूपात्मक वर्गीकरण का श्रीगणेश किया जाता है। अतः आकृतिमूलक वर्गीकरण के प्राण ये दोनों तत्व है जिनमें आकृति या रूप की समता पर विशेष बल दिया जाता है। इस अर्थ-तत्व और सम्बन्ध-तत्व के साम्य पर ही इस वर्गीकरण की भित्ति आधारित है। शब्दों की रूप-रचना कालान्तर में परिवर्तित हो जाती है परन्तु उसमें पद (रूप) साम्य की झलक स्पष्ट दृष्टिगत हो जाती है। डाक्टर भोलानाथ तिवारी के मतानुसार "वाक्य-विज्ञान और रूप-विज्ञान, या वाक्य-रचना एवं (रूप या) पद-रचना पर ही यह वर्गीकरण आधारित है।"

आकृति या रूप की दृष्टि से संसार की भाषाएँ प्रमुखतः दो वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं—

(क) अयोगात्मक या निरवयव भाषाएँ (Isolating)
(ख) योगात्मक या सावयव भाषाएँ (Agglutinating)।

(१) अयोगात्मक भाषाएँ

अयोगात्मक भाषाओं को निरवयव भाषाएँ भी कहते हैं। यहाँ 'अयोग' का अर्थ यह है कि शब्दों में उपसर्ग या प्रत्यय जोड़कर रूप-रचना नहीं की जाती है अपितु इस पद्धति में प्रत्येक शब्द की अपनी स्वतन्त्र सत्ता वर्तमान रहती है। इसमें दूसरे शब्दों के कारण विकार या परिवर्तन नहीं होता है। शब्द की पृथक्-पृथक् शक्ति के द्वारा ही अर्थ-तत्व और सम्बन्ध-तत्व का ज्ञान होता है। स्थान-परिवर्तन से ही अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है। इसलिए इन भाषाओं को 'स्थान-प्रधान' भी कहते हैं। इस वर्ग की सर्वप्रधान तथा प्रतिनिधि भाषा चीनी है। उद्देश्य और विधेय आदि का सम्बन्ध-ज्ञान स्थान या स्वर परिवर्तन के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। काल-रचना या कारक-रचना के सम्बन्ध कोई व्याकरण की सच्ची नियम नहीं है। एक ही शब्द स्थान-भेद तथा वाक्य में प्रयोग के आधार पर संज्ञा, विशेषण, क्रिया तथा क्रिया-विशेषण आदि शब्द में बिना किसी परिवर्तन के हो सकता है। जैसे चीनी भाषा में—

(१) 'ता लिन'=बड़ा आदमी।
'लिन ता'=आदमी बड़ा (है)।
(२) 'ओ त नि'=मैं [illegible]।

[illegible] उपस्थित हो गया है।
[illegible] में चीन [illegible]
[illegible] तथा [illegible]
[illegible] है। [illegible]
[illegible] [illegible]
[illegible]

[illegible]

तत्व का योग रहता है। इसमें शब्दों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वे प्रत्यय, विभक्ति आदि से संयुक्त होकर वाक्य में प्रयुक्त होते हैं। संसार की अधिकांश भाषाएं योगात्मक हैं, योग के प्रकृति के अनुसार इन भाषाओं के तीन विभाग किये जा सकते हैं—प्रश्लिष्ट, श्लिष्ट और अश्लिष्ट।

(क) प्रश्लिष्ट-योगात्मक (Incorporating)

इस विभाग की भाषाओं में सम्बन्ध-तत्व तथा अर्थ-तत्व को अलग नहीं किया जा सकता। जैसे संस्कृत 'ऋजु' से 'आर्जव' या 'शिशु' से 'शैशव' में अर्थ-तत्व तथा सम्बन्ध-तत्व का अभेद योग हो गया है। इनको समास-प्रधान भाषाएं भी कहते हैं क्योंकि इनमें अनेक अर्थ-तत्वों का समास की प्रक्रिया से योग हो सकता है जैसे राज पुत्र गण विजय:। इनके भी दो भेद किये गए हैं—पूर्ण प्रश्लिष्ट और आंशिक प्रश्लिष्ट।

पूर्ण प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं (Completely Incorporative) में सम्बन्ध-तत्व तथा अर्थ-तत्व का योग इतना पूर्ण रहता है कि शब्दों के संयोग से बना हुआ एक लम्बा-सा शब्द ही पूरा वाक्य बन जाता है। ग्रीनलैण्ड तथा दक्षिणी अमेरिका की चेरो की भाषा इसी प्रकार की है। चेरो की भाषा में—
नातेन=नाओ, अमोरांल=नाव, तिन=हम के संयोग से 'नाओलिनिन' शब्द बन गया जिसका अर्थ 'हमारे पास नाव नाओ' है। इस प्रकार ग्रीनलैण्ड की भाषा में 'अउलिसरिअर्तोरमु अर्पोक्' (वह मछली मारने के लिए जल्दी जाता है) अउलिसर (मछली मारना), पेअर्तोर (किसी काम में लगना), पिन्नेगुअर्पोक् (वह शीघ्रता करता है) से मिलकर बना है।

आंशिक प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं (Partly Incorporative) में सर्वनाम तथा क्रिया के मेल में क्रिया लुप्त होकर सर्वनाम का पूरक बन जाती है।

धारुक भाषा में—
दकार कि ओत=मैं इसे उनके पास ले जाता हूं।
नकारगु=तू मुझे ले जाता है।
हकारत=मैं तुझे ले जाता हूं।

भारतीय भाषाओं में भी उदाहरण दृष्टव्य है—
पुरानी में—'मे कह ं जे' का 'मइ जें' (मैंने वह कहा)।

(ग) श्लिष्ट-योगात्मक (Inflecting)

विभक्ति प्रधान, संस्कार प्रधान, विकृति प्रधान (Inflexional) भी इसी के नाम हैं। इन भाषाओं में सम्बन्ध-तत्त्व के योग से अर्थ-तत्त्व कुछ विकृत हो जाता है फिर भी सम्बन्ध-तत्त्व की अलग अलग ही मालूम पड़ती है। जैसे संस्कृत में वेद, नीति, इतिहास तथा भूगोल से 'इक' प्रत्यान्त वैदिक, नैतिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक आदि। अन्यय के परिणामतः वेद आदि शब्द में भी विकार आ गया है। इसमें कारक, वचन आदि का सम्बन्ध विभक्ति द्वारा होजाता है। इस वर्ग की भाषाएँ संसार में सर्वोन्नत हैं। सामी, हामी और भारोपीय परिवार इसी विभाग में आते हैं।

श्लिष्ट भाषाओं के भी दो उप-विभाग हैं—(१) अन्तर्मुखी तथा (२) बहिर्मुखी।

अन्तर्मुखी श्लिष्ट (Internal Inflectunal) भाषाओं में जोड़े हुए भाग अर्थ-तत्त्व के बीच में घुलमिल कर रहते हैं। अरबी भाषा में सम्बन्ध-तत्त्व स्वर होता है जो व्यञ्जनों के साथ घुल-मिल कर रहता है। क्-त्-ब् (लिखना) से अन्तर्मुखी विभक्तियाँ लगाकर किताब, कातिब (लिखने वाला), कुतुब (बहुत सी किताबें), मकतब शब्द बनते हैं। इसी प्रकार क्-त्-ल् (मारना) से कत्ल (खून) क़ातिल (मारने वाला), क़ित्ल (शत्रु) यक्तुलु (वह मारता) है। यहाँ क्-त्-ब् या क्-त्-ल् में विभिन्न स्वरों के समावेश से अर्थ परिवर्तित हो गया है।

आगे इस अन्तर्मुखी के दो भेद हैं :—

(१) संयोगात्मक (Synthetic)—अरबी आदि सेमेटिक भाषाओं का प्राचीन रूप संयोगात्मक था। शब्दों में अलग से सहायक सम्बन्ध-तत्त्व लगाने की आवश्यकता न थी।

(२) वियोगात्मक (Analytic)—अब संयोगात्मक भाषाओं का रूप वियोगात्मक हो रहा है। सहायक शब्दों की, सम्बन्ध को दिखाने के लिए आवश्यकता पड़ती है। हिन्दू भाषा में यह रूप स्पष्ट दिखाई देता है।

बहिर्मुखी श्लिष्ट (Internal Inflectunal)—भाषाओं में विभक्ति तथा

प्रत्यय मूल भाग (धातु-शब्द) के बाद आते हैं। जैसे संस्कृत में शक् धातु से 'शक्+अ+क्ति=शक्ति'। भारोपीय परिवार की भाषाएँ इसी वर्ग में आती हैं। इसके भी दो भेद हैं :—

(१) संयोगात्मक—इनमें सम्बन्ध-तत्व मूलरूप में विद्यमान रहता है। भारोपीय परिवार की ग्रीक, लैटिन, संस्कृत, अवेस्ता आदि प्राचीन भाषाएँ संयोग रूप में थीं। तिब्बती चीनी भी संयोगात्मक है।

(२) वियोगात्मक—आधुनिक भारोपीय भाषाएँ वियोगात्मक हो गई हैं। अंग्रेजी, हिन्दी, बंगला इसी प्रकार की हैं।

अश्लिष्ट योगात्मक अथवा प्रत्यय प्रधान भाषाएँ (Agglutinative)—

इनमें सम्बन्ध-तत्व तथा अर्थ-तत्व की पृथक् सत्ता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। सरलता, महत्व में प्रत्यय स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसके अवान्तर विभाग निम्न हैं—

(क) पूर्व-योगात्मक या पुरःप्रत्यय-प्रधान (Prefix Agglutinative)—इन भाषाओं में सम्बन्ध-तत्व आरम्भ में लगता है। इसका प्रायः उपसर्ग के रूप में प्रयोग होता है। बांटू (अफ्रीका) इसी कोटि में आती है। जुलू भाषा में—

उमु=एकवचन का चिह्न, अब=बहुवचन का चिह्न, न्त=आदमी।

इनके योग से बने शब्द—उमुन्तु=एक आदमी, अबन्तु=अनेक आदमी,

न्आउमुन्तु=आदमी से, न्अबन्तु=आदमियों से।

इसी प्रकार काफिर भाषा में—कुति=हमको, कुनि=उनको शब्द बनता है।

(ख) मध्य-योगात्मक या अन्तःप्रत्यय प्रधान (Infix Agglutinative)—इन भाषाओं में सम्बन्ध-तत्व मध्य में जुड़ता है। मुण्डा वंश की संथाली भाषा में—

मंझि=मुखिया, प—बहुवचन का चिह्न।

इनके योग से—मपंझि बन गया है। 'प' का योग मध्य में है।

तुर्की तथा बन्टू में भी कुछ रूप उपलब्ध होते हैं। तुर्की में—

सेवमेक—प्यार करना सेव-इलमेक—प्यार किया जाना।

सेव इनमेक – अपने को प्यार करना।

(ग) अन्त योगात्मक या परप्रत्यय प्रधान (Suffix Agglutinative)— इन भाषाओं में प्रत्यय का योग अन्त में रहता है। यूराल अल्टाइक तथा द्रविड़ कुल की भाषाएँ इसी श्रेणी की हैं। उदाहरण—तुर्की में –एव=घर।

एवलेर=कई घर, एवलेर इम = मेरे घर।

बंगाल में अनेक रूप इसी प्रकार के मिलते हैं।

(घ) पूर्वान्त योगात्मक— अर्थ तत्व में प्रत्यय का योग पहिले और बाद में भी होता है—यथा न्यूगिनी की मकोर भाषा में—

म्नफ=सुनना।

ज म्नफ=मैं सुनता हूं।

ज-म्नफ-उ=मैं तेरी बात सुनता हूं।

(ङ) ईषत् प्रत्यय प्रधान (Partially Agglutinative)— ये भाषाएँ योगात्मक तथा अयोगात्मक के मध्य की भाषाएँ हैं। होसा, बास्क, जापानी, न्यूजीलैण्ड एवं हवाई द्वीप की भाषाएँ इसी वर्ग की हैं। मलायन भाषाएँ सर्व-योगात्मक तथा सर्वप्रत्यय प्रधान है।

इस वर्गीकरण की उपयोगिता—आधुनिक काल में भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में अधिक अनुसंधान हो जाने पर आकृति-मूलक वर्गीकरण का महत्व कम हो गया है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से इस विभाजन की उपयोगिता अधिक नहीं हो सकी है। भाषा का वाक्य-गठन, रचना और शैली के अध्ययन में इससे सहायता मिल सकती है। परन्तु भाषा के बाह्य रूप के आधार पर यह वर्गीकरण भाषा के सुनिश्चित स्वरूप का निर्णय नहीं कर सकता। भाषा का स्वभावगत गुण परिवर्तन-शीलता है। बाह्य प्रभावों के कारण भाषा के रूपों में परिवर्तन होते रहे हैं। एक ही शब्द के अनेक रूपान्तर पर विभिन्न स्वरूप मिलते हैं। परिणामस्वरूप इनमें अनेक भाषाएँ एक वर्ग में आ जाती हैं जिनका कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। विभिन्न प्रधान वर्ग का होकर अन्त वर्ग में अनेक असम्बद्ध भाषाएँ सम्मिलित हैं। जैसे द्रविड़ और तुरान अल्टाई परिवार की भाषाओं में ऐतिहासिक सम्बन्ध न होते हुए भी इनको साम्य के आधार पर एक ही वर्ग में रखा है जो वैज्ञानिक नहीं है। परन्तु इतना निश्चय है कि आकृति-मूलक

रचना की समानता। इन सब संकेतों के आधार पर दो भाषाओं को एक परिवार का सिद्ध करने के लिए निम्न तथ्य विचारणीय हैं—

(क) ध्वनियों की समता। (ख) ध्वनियों की विभिन्नता में अन्य भाषा के प्रभाव या उनके स्वाभाविक विकास के आधार पर नवीन ध्वनियों के प्रवेश के इतिहास का निरीक्षण। (ग) शब्दों प्रमुखतः मौलिक शब्द-भाण्डार के संज्ञा, क्रिया (धातु), सर्वनाम और सङ्ख्यावाचक विशेषण में ध्वनि और अर्थ की समानता। (घ) धातु या मूल शब्द में व्याकरणिक तत्वों का विश्लेषण कर शब्द-निर्माण की प्रक्रिया की समानता। (ङ) वाक्य-रचना की समानता। इन सिद्धान्तों के अनुसार भाषा की तुलना और इतिहास के आधार पर भाषा के मूल और उत्पत्ति की खोज करके अनेक भाषाओं के परिवार की कल्पना की जाती है। एक देश के लोग दूसरे देश में आकर भी अपनी पूर्व-भाषा की अक्षुण्णता बनाये रखते हैं। दूर होते हुए भी भाषा के परिवर्तित रूप में सजातीयता की झलक स्पष्ट रहती है।

स्पष्टता और सुबोधता की दृष्टि से भूगोल के आधार पर संसार की भाषाओं को बाट लेना समीचीन होगा। इन खण्डों में अनेक भाषा-परिवार सम्मिलित हैं। इस दृष्टि से भाषा के चार खण्ड हैं—(१) अफ्रीका खण्ड (२) यूरेशिया खण्ड (३) प्रशान्त महासागरीय खण्ड तथा (४) अमरीका खण्ड।

अफ्रीका खंड

अफ्रीका खण्ड में भाषा-परिवार की संख्या पांच है—(क) बुशमैन, (ख) बान्टू, (ग) सूडान तथा (घ) सेमेटिक।

बुशमैन भाषाएँ प्राचीनतम और जंगली भाषाएँ हैं। इन्होंने सूडान तथा बान्टू परिवार को भी प्रभावित किया है। अब इनकी प्रवृत्ति ह्रास-प्रधान हो रही है। क्लिक तथा अन्तःस्फोटात्मक ध्वनियाँ इस भाषा में मिलती हैं। इनमें पुंलिंग, स्त्रीलिंग न होकर सजीव और निर्जीव तत्वों से लिंग का ज्ञान होता है। एकवचन की पुनरुक्ति से बहुवचन शब्द बन जाता है; यथा घोड़ा घोड़ा (अनेक घोड़े) आदि।

बान्टू परिवार की भाषाएँ मध्य तथा दक्षिणी अफ्रीका में मिलती हैं। पदों की रचना उपसर्ग जोड़ कर होती है। इन भाषाओं में लिंग-भेद का अभाव

वर्गीकरण भाषा के विकास-क्रम को समझने में सहायक है। भाषा
उसकी गति के बोधार्थ इसका योग महान् है। संयोग से वियोग
योग सम्बन्धी विज्ञान का ज्ञान इस वर्गीकरण से यथेष्ट मिल जाए
प्रधान समरीकी बोलियाँ आदिम मानव की भाषा की द्योतक हैं।

प्रश्न ११—भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण किस सिद्धान्त
पर किया जाता है ? प्रत्येक वर्ग का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
(वि० वि० १९६

जिस प्रकार आकृतिमूलक या रचनात्मक वर्गीकरण में भाषाओं
आकृति, रूप और रचना पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है तथ
तत्वों की विविधता तथा उनके प्रयोग की विवेचना कर वर्गीकरण
का निर्धारण करता है, उसी प्रकार पारिवारिक वर्गीकरण में व
तत्वों के अतिरिक्त अर्थ-तत्व का विवेचन कर शब्द तथा भाषा के
उद्भव और विकास का निरीक्षण कर उनके साम्य की भावना का नि
प्रतिपादन करता है। अतः पारिवारिक विभाजन को ऐतिहासिक, उ
तथा वंशानुक्रमिक नाम से भी पुकारा जाता है। मानव वंश-परम्पर
दर-पीढ़ी व्यक्ति का अंकन होता है और तदनुसार परिवार की स्
जाती है। इसी तरह एक वंश या परिवार में केवल वे भाषाएँ स्थान
जिनमें रूप-रचना के अतिरिक्त शब्दार्थ और ध्वनि की दृष्टि से
होता है।

प्रायः एक ही प्रकार की भाषा में (१) शब्द-समूह (शब्द और अ
व्याकरण या रचना (सम्बन्ध-तत्व) और (३) ध्वनि की समानता
है। शब्द-समूह और ध्वनि की दृष्टि से व्याकरण की अपेक्षा अधिक
से परिवर्तन होता है। व्याकरण की दृष्टि से समता रखने वाले शब्द वि
सर्वनाम हैं, क्योंकि अन्य भाषा में संज्ञा या विशेषण की अपेक्षा इनको
ग्रहण किया जाता है। शब्द-साम्य में शब्दों के तद्भव रूप पर ही अधिक
किया जाता है। व्याकरण की समानता में तीन बातें विचार्य हैं—(१)
शब्द बनाने की समानता, (२) मूल शब्द से पूर्वलग्न (*Prefix*) मध्यलग्न (
तथा अन्तर्लग्न (Suffix) के योग से अन्य शब्द की रचना तथा (३)

समुदाय में रखा गया है। इस खण्ड को आठ भाषा परिवारों में विभक्त किया गया है—

(१) सेमेटिक, (२) काकेशस, (३) यूराल-अल्टाई (४) एकाक्षर, (५) द्रविड़, (६) आग्नेय, (७) भारोपीय तथा (८) विविध।

१. सेमेटिक परिवार के साहित्य ने भारोपीय परिवार की भाषाओं को अधिक प्रभावित किया है। अनेक लिपियों का आदिस्रोत भारत और चीन को छोड़कर सेमेटिक परिवार ही रहा है। इस परिवार की भाषाओं में पारस्परिक साम्य अधिक मिलता है। इस परिवार का कुछ विवरण अफ्रीका खण्ड में दे दिया गया है। अरबी इस खण्ड की प्रतिनिधि तथा परिनिष्ठित भाषा है।

२ काकेशस परिवार—इस परिवार की भाषाएँ कृष्ण सागर और कैस्पियन सागर के मध्य काकेशस पर्वत पर बोली जाती हैं। पर्वतीय स्थान की अधिकता से अनेक बोलियों का यहाँ विकास हो गया है। ये भाषाएँ अंतः-अश्लिष्ट-योगात्मक हैं और इनमें प्रत्यय और उपसर्ग दोनों ही लगाये जाते हैं। संज्ञा में अधिक विभक्तियों तथा कहीं छः लिंगों का प्रयोग भी होता है। बास्क की भाँति सर्वनाम और क्रिया का योग भी इस परिवार में होता है। इस वंश में क्रिया के रूप जटिल हैं। जार्जियन भाषा के अतिरिक्त इनकी कोई लिपि और साहित्य नहीं है।

३ यूराल अल्टाई समुदाय—इस समुदाय के अन्य नाम सीथियन, तूरानी तथा फिनो-तातारिक भी हैं। इस वृत्त की भाषाएँ टर्की और फिनलैण्ड से लेकर पूर्व में ओखोत्स्क सागर तक तथा भूमध्य सागर से उत्तरीय सागर तक फैली हुई हैं। क्षेत्र-विस्तार में भारोपीय परिवार ही इसके समकक्ष रखा जा सकता है। इन भाषाओं में अधिक भिन्नता मिलती है। ये भाषाएँ अश्लिष्ट अन्तर्योगात्मक हैं। धातु में प्रत्यय के योग से पद-रचना की जाती है। कुछ भाषाएँ अश्लिष्ट से श्लिष्ट हो रही हैं; जैसे फिनिस आदि। धातु का प्रयोग अव्यय के समान अधिकारी रूप में किया जाता है। उच्चारण की सुविधा के लिए धातुओं के 'वजन' पर प्रत्ययों के स्वर लघु तथा गुरु कर दिये जाते हैं। जैसे अट् के साथ 'लर' मिलकर अट्लर (घोड़े) पद बनता है पर 'एव' के साथ एव्लेर (=अनेक घर)। यह परिवार फिनिश, तुर्की, हंगरी, साहित्य तथा

है। कभी-कभी स्वर-भेद से अर्थ विपरीत हो जाता है। जैसे
अर्थ बाँधना है परन्तु होशियो-क्वा का अर्थ खोलना है। इस भ
गुण कोमलता, माधुर्य तथा काव्यात्मकता है। दक्षिणी पूर्वी भा
ध्वनियाँ भी प्राप्त होती हैं।

सूडान परिवार की भाषाओं का प्रचलन भूमध्य-रेखा
हेमेटिक परिवार के दक्षिण में है। कुछ भाषाएँ लिपिबद्ध हैं
साम्य रखती हैं। चीनी भाषा की भाँति ये प्रयोगात्मक तथा
परिवार की भाषाएँ ध्वन्यात्मक हैं तथा सुर तथा तान के
जाता है। विभक्तियों का नितान्त अभाव है।

हेमेटिक परिवार का विस्तार सम्पूर्ण अफ्रीका प्रदेश में है।
की कतिपय भाषाओं में धार्मिक साहित्य तथा प्राचीन शिलालेख
है। इस परिवार की भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक हैं। पद-रचना
सर्ग दोनों का प्रयोग होता है तथा स्वर-परिवर्तन से अर्थ बदला
रुक्ति का प्रयोग बल देने के लिए होता है, जैसे गोइ (काटना) से
बार काटना) बनता है।

सेमेटिक परिवार की भाषाओं का प्रयोग मोरक्को से
होता है। इसका प्रधान क्षेत्र एशिया है। सेमेटिक और हेमेटिक
की दृष्टि से पर्याप्त साम्य है। इनमें धातु प्रायः तीन व्यंजनों की
स्वर तथा प्रत्यय से शब्द-निर्माण होता है, जैसे क्-त्-ल् से हि
केवल व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में मिलता है। 'त' स्त्रीलिंग का चि
'थ' या 'ह' हो गया है जैसे मलक (राजा) से मलकह (रानी)।
अरबी भाषा, धर्म, ज्योतिष, गणित, दर्शन, साहित्य और रसायन
बनी है।

यूरेशिया खंड

यूरेशिया खण्ड संसार भर में मानव-सभ्यता और संस्कृति
केन्द्र रहा है। अतः इस क्षेत्र की साहित्य-निधि विकसित भी
रही है, अतः इस खण्ड की भाषाओं का अध्ययन और विवेचन
वैज्ञानिक रूप से हुआ है। इस वर्ग के अन्तर्गत न आने वाली भाषा

समुदाय में रखा गया है। इस खण्ड को आठ भाषा परिवारों में विभक्त किया गया है—

(१) सेमेटिक, (२) काकेशस, (३) यूराल-अल्टाई (४) एकाक्षर, (५) द्रविड़, (६) आग्नेय, (७) भारोपीय तथा (८) विविध।

१. सेमेटिक परिवार के साहित्य ने भारोपीय परिवार की भाषाओं को अधिक प्रभावित किया है। अनेक निधियों का आदिस्रोत भारत और चीन को छोड़कर सेमेटिक परिवार ही रहा है। इस परिवार की भाषाओं में पारस्परिक साम्य अधिक मिलता है। इस परिवार का कुछ विवरण अफ्रीका खण्ड में दे दिया गया है। अरबी इस खण्ड की प्रतिनिधि तथा परिनिष्ठित भाषा है।

२ काकेशस परिवार—इस परिवार की भाषाएँ कृष्ण सागर और कैस्पियन सागर के मध्य काकेशस पर्वत पर बोली जाती हैं। पर्वतीय स्थान की अधिकता से अनेक बोलियों का यहाँ विकास हो गया है। ये भाषाएँ अंतः-अश्लिष्ट-योगात्मक हैं और इनमें प्रत्यय और उपसर्ग दोनों ही लगाये जाते हैं। संज्ञा में अधिक विभक्तियों तथा कहीं छः लिंगों का प्रयोग भी होता है। बास्क की भाँति सर्वनाम और क्रिया का योग भी इस परिवार में होता है। इस वर्ग में क्रिया के रूप जटिल हैं। जार्जियन भाषा के अतिरिक्त इनकी कोई निधि और साहित्य नहीं है।

३ यूराल अल्टाई समुदाय—इस समुदाय के अन्य नाम सीथियन, तूरानी तथा किरो-तातारिक भी हैं। इस कुल की भाषाएँ टर्की और फिनलैण्ड से लेकर पूर्व में ओखोत्स्क सागर तक तथा भूमध्य सागर से उत्तरीय सागर तक फैली हुई हैं। क्षेत्र-विस्तार में भारोपीय परिवार ही इसके समकक्ष रखा जा सकता है। इन भाषाओं में अधिक भिन्नता मिलती है। ये भाषाएँ अश्लिष्ट अन्त.योगात्मक हैं। धातु में प्रत्यय के योग से पद-रचना की जाती है। कुछ भाषाएँ अश्लिष्ट से श्लिष्ट हो रही हैं; जैसे फिनिश आदि। धातु का प्रयोग अव्यय के समान अधिकारी रूप में किया जाता है। उच्चारण की सुविधा के लिए धातुओं के 'वजन' पर प्रत्ययों के स्वर लघु तथा गुरु कर दिये जाते हैं। जैसे अट् के साथ 'लर' मिलकर अटुलर (घोड़े) पद बनता है पर 'एव' के साथ एवलेर(=अनेक घर)। यह परिवार विनिश, तुर्की, हंगरी, साहित्य तथा

है। कभी-कभी स्वर-भेद से अर्थ विपरीत हो जाता है। जैसे होकिनोन्ना का अर्थ बोलना है परन्तु होकिनोन्ना का अर्थ सोचना है। इस भाषा का प्रधान गुण कोमलता, माधुर्य तथा काव्यात्मकता है। दक्षिणी पूर्वी भाषाओं में क्लिक ध्वनियाँ भी प्राप्त होती हैं।

सूडान परिवार की भाषाओं का प्रचलन भूमध्य-रेखा के उत्तर तथा हेमेटिक परिवार के दक्षिण में है। कुछ भाषाएँ विभक्ति हैं तथा बान्टू से साम्य रखती हैं। चीनी भाषा की भाँति ये अर्थद्योतात्मक तथा एकाक्षर हैं। इस परिवार की भाषाएँ ध्वन्यात्मक हैं तथा सुर तथा तान के साथ अर्थ बदल जाता है। विभक्तियों का नितान्त अभाव है।

हेमेटिक परिवार का विस्तार सम्पूर्ण अफ्रीकी प्रदेश में है। इस परिवार की कतिपय भाषाओं में धार्मिक साहित्य तथा प्राचीन शिलालेख भी उपलब्ध हैं। इस परिवार की भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक हैं। पद-रचना प्रत्यय तथा उपसर्ग दोनों का प्रयोग होता है तथा स्वर-परिवर्तन से अर्थ बदल जाता है। पुनरुक्ति का प्रयोग बल देने के लिए होता है, जैसे गोद (काटना) से गोगोद (बार बार काटना) बनता है।

सेमेटिक परिवार की भाषाओं का प्रयोग मोरक्को से स्वेज नहर तक होता है। इसका प्रधान क्षेत्र एशिया है। सेमेटिक और हेमेटिक में पद-रचना की दृष्टि से पर्याप्त साम्य है। इनमें धातु प्रायः तीन व्यंजनों की होती है और स्वर तथा प्रत्यय से शब्द-निर्माण होता है, जैसे क्-त्-ल् से हिसिल। समास केवल व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में मिलता है। 'त' स्त्रीलिंग का चिन्ह है यह कहीं 'थ' या 'ह' हो गया है जैसे मलक (राजा) से मलकह (रानी)। इस वर्ग की अरबी भाषा, धर्म, ज्योतिष, गणित, दर्शन, साहित्य और रसायन की दृष्टि से धनी है।

यूरेशिया खंड

यूरेशिया खण्ड संसार भर में मानव-सभ्यता और संस्कृति का स्रोत तथा केन्द्र रहा है। अतः इस क्षेत्र की साहित्य-निधि विकसित और सुव्यवस्थित रही है, अतः इस खण्ड की भाषाओं का अध्ययन और विवेचन विस्तृत तथा वैज्ञानिक रूप में हुआ है। इस वर्ग के अन्तर्गत न आने वाली भाषाओं को विविध-

समुदाय में रखा गया है। इस खण्ड को आठ भाषा परिवारों में विभक्त किया गया है—

(१) सेमेटिक, (२) काकेशस, (३) यूराल-अल्टाई (४) एकाक्षर, (५) द्रविड़, (६) आग्नेय, (७) भारोपीय तथा (८) विविध।

१. सेमेटिक परिवार के साहित्य ने भारोपीय परिवार की भाषाओं को अधिक प्रभावित किया है। अनेक लिपियों का आदिस्रोत भारत और चीन को छोड़कर सेमेटिक परिवार ही रहा है। इस परिवार की भाषाओं में पारस्परिक साम्य अधिक मिलता है। इस परिवार का कुछ विवरण अफ्रीका खण्ड में दे दिया गया है। अरबी इस खण्ड की प्रतिनिधि तथा परिनिष्ठित भाषा है।

२. काकेशस परिवार—इस परिवार की भाषाएँ कृष्ण सागर और कैस्पियन सागर के मध्य काकेशस पर्वत पर बोली जाती हैं। पर्वतीय स्थान की अधिकता से अनेक बोलियों का यहाँ विकास हो गया है। ये भाषाएँ अंतः-अश्लिष्ट-योगात्मक हैं और इनमें प्रत्यय और उपसर्ग दोनों ही लगाये जाते हैं। संज्ञा में अधिक विभक्तियों तथा कहीं छ लिंगों का प्रयोग भी होता है। बास्क की भाँति सर्वनाम और क्रिया का योग भी इस परिवार में होता है। इस वंश में क्रिया के रूप जटिल हैं। जार्जियन भाषा के अतिरिक्त इनकी कोई लिपि और साहित्य नहीं है।

३. यूराल अल्टाई समुदाय—इस समुदाय के अन्य नाम सीथियन, तूरानी तथा फिनो-तातारिक भी हैं। इस कुल की भाषाएँ टर्की और फिनलैण्ड से लेकर पूर्व में ओखोत्स्क सागर तक तथा भूमध्य सागर से उत्तरीय सागर तक फैली हुई हैं। क्षेत्र-विस्तार में भारोपीय परिवार ही इसके समकक्ष रखा जा सकता है। इन भाषाओं में अधिक भिन्नता मिलती है। ये भाषाएँ अश्लिष्ट अन्त:योगात्मक हैं। धातु में प्रत्यय के योग से पद-रचना की जाती है। कुछ भाषाएँ अश्लिष्ट से श्लिष्ट हो रही हैं; जैसे फिनिश आदि। धातु का प्रयोग अव्यय के समान अधिकारी रूप में किया जाता है। उच्चारण की सुविधा के लिए धातुओं के 'वजन' पर प्रत्ययों के स्वर लघु तथा गुरु कर दिये जाते हैं। जैसे अट् के साथ 'लर' मिलकर अट्लर (घोड़े) पद बनता है पर 'एव' के साथ एव्लेर(=अनेक घर)। यह परिवार फिनिश, तुर्की, हंगरी, साहित्य तथा

है। कभी-कभी स्वर-भेद से अर्थ विपरीत हो जाता है। जैसे होक्सेत्सा का अर्थ बाँधना है परन्तु होक्सोत्सा का अर्थ सोचना है। इस भाषा का प्रधान गुण कोमलता, माधुर्य तथा काव्यात्मकता है। दक्षिणी पूर्वी भाषाओं में क्लिक ध्वनियाँ भी प्राप्त होती हैं।

सूडान परिवार की भाषाओं का प्रचलन भूमध्य-रेखा के उत्त हेमेटिक परिवार के दक्षिण में है। कुछ भाषाएँ लिखित हैं तथा साम्य रखती हैं। चीनी भाषा की भाँति ये अयोगात्मक तथा एकाक्षर परिवार की भाषाएं ध्वन्यात्मक हैं तथा सुर तथा तान के साथ अर्थ जाता है। विभक्तियों का नितान्त अभाव है।

हेमेटिक परिवार का विस्तार सम्पूर्ण अफ्रीकी प्रदेश में है। इन प की कतिपय भाषाओं में धार्मिक साहित्य तथा प्राचीन शिलालेख भी उ हैं। इस परिवार की भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक हैं। पद-रचना प्रत्यय तथा सर्ग दोनों का प्रयोग होता है तथा स्वर-परिवर्तन से अर्थ बदल जाता है। रुक्ति का प्रयोग बल देने के लिए होता है, जैसे गोइ (काटना) से गोगोइ। बार काटना) बनता है।

सेमेटिक परिवार की भाषाओं का प्रयोग मोरक्को से स्वेज नहर होता है। इसका प्रधान क्षेत्र एशिया है। सेमेटिक और हेमेटिक में पद-र की दृष्टि से पर्याप्त साम्य है। इनमें धातु प्रायः तीन व्यंजनों की होती है। स्वर तथा प्रत्यय से शब्द-निर्माण होता है, जैसे क्-त्-ल् से हित्तिल। सम केवल व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में मिलता है। 'त' स्त्रीलिंग का चिन्ह है यह क 'थ' या 'ह' हो गया है जैसे मलक (राजा) से मलकह (रानी)। इस वर्ग अरबी भाषा, धर्म, ज्योतिष, गणित, दर्शन, साहित्य और रसायन की दृष्टि धनी है।

यूरेशिया खंड

यूरेशिया खण्ड संसार भर में मानव-सभ्यता और संस्कृति का स्रोत तथा केन्द्र रहा है। अतः इस क्षेत्र की साहित्य-निधि विकसित और सुव्यवस्थित रही है, अतः इस खण्ड की भाषाओं का अध्ययन और विवेचन विस्तृत तथा वैज्ञानिक रूप से हुआ है। इस वर्ग के अन्तर्गत न आने वाली भाषाओं को विभि-

समुदाय में रखा गया है। इस खण्ड को आठ भाषा परिवारों में विभक्त किया गया है—

(१) सेमेटिक, (२) काकेशस, (३) यूराल-अल्टाई (४) एकाक्षर, (५) द्रविड़, (६) आग्नेय, (७) भारोपीय तथा (८) विविध।

१. सेमेटिक परिवार के साहित्य ने भारोपीय परिवार की भाषाओं को अधिक प्रभावित किया है। अनेक लिपियों का आदिस्रोत भारत और चीन को छोड़कर सेमेटिक परिवार ही रहा है। इस परिवार की भाषाओं में पारस्परिक साम्य अधिक मिलता है। इस परिवार का कुछ विवरण अफ्रीका खण्ड में दे दिया गया है। अरबी इस खण्ड की प्रतिनिधि तथा परिनिष्ठित भाषा है।

२. काकेशस परिवार—इस परिवार की भाषाएँ कृष्ण सागर और कैस्पियन सागर के मध्य काकेशस पर्वत पर बोली जाती हैं। पर्वतीय स्थल की अधिकता से अनेक बोलियों का यहाँ विकास हो गया है। ये भाषाएँ अन्तः-अश्लिष्ट-योगात्मक हैं और इनमें प्रत्यय और उपसर्ग दोनों ही लगाये जाते हैं। संज्ञा में अधिक विभक्तियों तथा कहीं छः लिंगों का प्रयोग भी होता है। बास्क की भाँति सर्वनाम और क्रिया का योग भी इस परिवार में होता है। इस वंश में क्रिया के रूप जटिल हैं। जार्जियन भाषा के अतिरिक्त इनकी कोई लिपि और साहित्य नहीं है।

३. यूराल अल्टाई समुदाय—इस समुदाय के अन्य नाम सीथियन, तूरानी तथा तिनो-तातारिक भी हैं। इस कुल की भाषाएँ टर्की और फिनलैण्ड से लेकर पूर्व में ओखोत्स्क सागर तक तथा भूमध्य सागर से उत्तरीय सागर तक फैली हुई है। क्षेत्र-विस्तार में भारोपीय परिवार ही इसके समकक्ष रखा जा सकता है। इन भाषाओं में अधिक भिन्नता मिलती है। ये भाषाएँ अश्लिष्ट अन्त:योगात्मक हैं। धातु में प्रत्यय के योग से पद-रचना की जाती है। कुछ भाषाएँ अश्लिष्ट से श्लिष्ट हो रही हैं; जैसे फिनिस आदि। धातु का प्रयोग अव्यय के समान अधिकारी रूप में किया जाता है। उच्चारण की सुविधा के लिए धातुओं के 'वर्जन' पर प्रत्ययों के स्वर लघु तथा गुरु कर दिये जाते हैं। जैसे अट् के साथ 'लर' मिलकर अट्लर (घोड़े) पद बनता है पर 'एव' के साथ एव्लेर (=अनेक घर)। यह परिवार फिनिश, तुर्की, हंगरी, साहित्य तथा

समृद्धि की दृष्टि से प्रसिद्ध है।

४. एकाक्षर परिवार—चीनी भाषा की प्रमुखता के कारण इनको चीनी परिवार भी कहते हैं। इसका क्षेत्र चीन, स्याम, तिब्बत और बर्मा तक विस्तृत है। भारोपीय परिवार के पश्चात् भाषा-भाषियों की दृष्टि से सबसे बड़ा है। चीनी-भाषा में विश्व का सर्वप्रचीन साहित्य प्राप्त होता है। चीनी भाषा में इतनी क्षमता है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों को सरलता से अभिव्यक्ति कर सकती है। इस समुदाय की भाषाएँ प्रयोगात्मक तथा स्वर प्रधान हैं। प्रत्येक शब्द एकाक्षरात्मक तथा अव्यय के रूप में किसी भी स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है। इन शब्दों की संख्या पाँच सौ से एक सहस्र के मध्य है। अधिक तथा अनेक अर्थ के प्रकट करने के लिए सुर या तान का उपयोग होता है। स्पष्टता के लिए द्वित्व का प्रयोग किया जाता है, जैसे ताओ-लू के एक साथ प्रयोग से अनेकार्थों में सड़क का अर्थ ले लिया गया है। एक ही शब्द स्थान और आवश्यकतानुसार संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि बन जाता है। यहाँ अनुनासिका ध्वनियों का अधिकतर प्रयोग होता है। 'ङ' और 'ञ' के उच्चारण का बाहुल्य इस चीनी भाषा में मिलता है। अनामी और स्यामी पर चीनी का तथा तिब्बती और बर्मी पर भारतीय प्रभाव अधिक पड़ा है। बौद्ध धर्म सम्बन्धी साहित्य इन भाषाओं में सुरक्षित है।

५. द्रविड़ परिवार—यह वर्ग नर्मदा, गोदावरी के दक्षिण दिशा में समस्त भारत में फैला हुआ है। इसको तामिल परिवार भी कहते हैं। यह वाक्य और स्वर की दृष्टि से यूराल-अल्टाई परिवार के अनुरूप है। ये भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं। प्रत्यय और समास का प्राधान्य है। इस परिवार की विशेषताएँ मूर्धन्य ध्वनियाँ (हवर्ग) हैं। इन भाषाओं में दो वचन और तीन लिंग होते हैं। नपुंसक शब्द प्रायः एकवचन होते हैं। मलयम, कन्नड, तामिल तथा तेलुगू इस परिवार की विकसित भाषाएँ हैं। आर्य-भाषाओं में सोलह पर आधारित (सेर छटाँक, रुपया-आना) माप तथा मूर्धन्य ध्वनियाँ तथा अलि, नीर, मीन, अटवी, कठिन, कोण आदि किसी परिवार की देन है।

६. आग्नेय परिवार- इसको आस्ट्रिक परिवार भी कहा गया है। यह प्रशान्त-सागर के द्वीपों, स्याम, बर्मा के जंगलों में, निकोबार, आसाम की

पहाड़ियों पर, बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश तथा मद्रास के कुछ भागों तक फैला हुआ है। इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं, पर कुछ वियोगावस्था की ओर बढ़ रही हैं। धातु द्वि-प्रकारात्मक हैं। पद-रचना में योग आदि, मध्य, अन्त स्थानों पर होता है। इस परिवार की मुंडा भाषा अधिक प्रसिद्ध है। चीनी भाषा की तरह एक शब्द ही यथा-स्थान संज्ञा, क्रिया का रूप धारण कर लेता है। ध्वनियों में यह परिवार भारतीय भाषाओं के तुल्य है। दो लिंग, तीन वचन और दस तक संख्याएँ होती हैं। कोडी शब्द तथा वस्तुओं की कोड़ी के वर्ग) में गिनना मुंडा भाषा से ही भारतीय भाषाओं में आया है।

(७) भारोपीय परिवार—इस परिवार में संसार की सर्वोन्नत तथा विक- भाषाएँ आती हैं। यह परिवार साहित्य, क्षेत्र और स्वीकृति की दृष्टि से रि है। इस परिवार के अन्य नाम, आर्य या भारत-ईरानी वर्ग, भारत- आदि प्रसिद्ध हैं। इनकी विभक्तियाँ बहिर्मुखी हैं। धातुएँ एकाच् हैं। रचना का बाहुल्य है। ये सभी भाषाएँ संहिन से व्यवहित हो रही हैं। नी शाखाएँ हैं—बेल्टिक, जर्मन, इटालिक, ग्रीक, तोखारी, अल्बेनियन, लाव्हिक, आर्मनियन तथा आर्य वर्ग।

(८) विविध समुदाय—निर्दिष्ट परिवार के अन्तर्गत न आने वाली एँ इस समुदाय में आती हैं। इसके दो भेद हैं—प्राचीन और आधुनिक। न भाषाओं में इटली की एत्रुस्कन, सुमेरियन, मितानी, कोसी, बन्नी, साइट आती हैं। आधुनिक भाषाओं में कोरियाई, एनु, बास्क, जापानी, मानी आदि प्रमुख हैं। फ्रांस और स्पेन की सीमा पर बास्क बोली जाती इसका वाक्य-विन्यास सरल और सुगम है।

त महासागरीय खंड

इस खण्ड की भाषाओं का विस्तार प्रशांत महासागर, हिन्द महासागर में [illegible] है। इस खण्ड में पाँच परिवार हैं—

इन परिवारों को आस्ट्रोनेशियन परिवार या मलय पालिनेशियन परिवार के नाम से अभिहित किया जाता है। प्रथम तीन परिवारों को मलय-पालिनेशियन परिवार भी कह दिया जाता है। इन परिवारों का एक स्रोत होने के कारण में बहुत सी बातों में समानता है। प्रायः इस खंड की भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक है। प्राय. धातुएँ दो अक्षरों की होती हैं। स्वराघात बलात्मक है। पद-रचना के लिए आदि, मध्य तथा अन्त में शब्दों का योग कर दिया जाता है। ये सभी भाषाएँ शनैः-शनैः वियोगात्मक हो रही हैं।

अमरीका खंड

इस खंड के अन्तर्गत उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका की भाषाएँ आती हैं। इस खंड की चार सौ भाषाओं को तीस वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। ये सभी भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं। वाक्य-रचना के लिए शब्दों की प्रधान ध्वनि या अंश के योग से वाक्य एक लम्बे शब्द रूप में बन जाता है। चेरो भाषा का नाधोलिनिन (हमारे पास नाव लाओ) इसका एक उदाहरण है। मय आदि कुछ भाषाओं में लिपि और साहित्य दोनों ही उपलब्ध होते हैं। इन भाषा-परिवारों का सम्यक् अध्ययन न होने के कारण इसका वैज्ञानिक विभाजन या वर्गीकरण सम्भव नहीं हो सका है। अध्ययन की सामग्री का भी इस खण्ड में अभी नितान्त अभाव है।

प्रश्न १२—भारोपीय (आर्य) मनुष्यों के मूल निवास-स्थान के सम्बन्ध में विभिन्न मतों पर प्रकाश डालिये। (प० वि० १९५३, दि० वि० १९५५)

भारोपीय भाषाओं का क्षेत्र सर्वाधिक उन्नत है और उसकी सभ्यता और संस्कृति विश्व भर में सर्वश्रेष्ठ समझी जाती रही है। अगर विज्ञान के पर्यवेक्षण के आधार पर समस्त भारोपीय भाषाओं का मूल एक स्रोत है तो यह भी निश्चित है कि सर्वप्रथम भारोपीय लोगों का निवास-स्थान एक ही रहा होगा। यह संभव हो सकता है कि परिवार की वृद्धि होने से उनका विश्व के अन्य प्रदेशों की ओर निष्क्रमण हो गया हो। ये भारोपीय मनुष्य आर्य ही थे, इसमें अधिकांश विद्वान् एकमत हैं। कुछ विद्वान् इनको 'विरोस्' भी कहते हैं। साहित्य, ज्योतिष, पुरातत्व, मानव-विज्ञान, भाषा-विज्ञान, प्राचीन भूगोल आदि

ग्रंथों का सहारा लिया गया है। परन्तु फिर भी आर्यों के मूल-स्थान का विषय बड़ा विवादग्रस्त बना हुआ है। अनेक विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अपने मत-मतान्तर प्रस्तुत किये हैं। स्थान की दृष्टि से इस विषय के सारे मत निम्न रूप से निर्धारित किये जा सकते हैं—

(अ) मूल स्थान भारत में था।

(आ) मूल स्थान कहीं भारत के बाहर था।

(क) एशिया के किसी प्रदेश में इसकी स्थिति, (ख) मूल-स्थान यूरोप में कहीं था, (ग) वह स्थान यूरोप एशिया के संधि-स्थल पर या उसके निकट था।

(अ) मूलस्थान की भारत में स्थिति—भारतीय ग्रंथों के सूत्र से स्पष्ट होता है कि मानव-सृष्टि का आरम्भ किसी पर्वतीय प्रदेश या उसके निकटवर्ती प्रदेश में हुआ होगा। देव-सृष्टि का प्रादुर्भाव ही मानव-सृष्टि की आदि शृंखला है। देवों का निवास-स्थान शास्त्रों में हिमालय या मेरु पर्वत ही लिया गया है। मेरु पर्वत की स्थिति विवादग्रस्त है। मेरु पर्वत को सुख, आनन्द तथा उत्थान का स्थान कहा गया है। भारतीयों की इस कल्पना में कितना तथ्य है यह अभी नहीं कहा जा सकता है। पर इस कल्पना से कुछ परिणाम अवश्य निकले हैं। भारत में मूल-स्थान मानने के पक्ष में कुछ प्रमुख भारतीय मनीषियों का ही मत उल्लेखनीय है। उनका अति संक्षिप्त विवेचन निम्न रूप से स्पष्ट है—

(१) यह स्थान काश्मीर में या हिमालय में था। —एल० डी० कल्ला

(२) आर्यों का मूल स्थान ब्रह्मर्षि देश है।

—महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा।

(३) यह स्थान मुल्तान में देविका नदी के किनारे या उसकी घाटी में स्थित था।

—डा० डी० एस० त्रिवेदी।

(४) कुछ लोग मुल्तान को ही 'मूल-स्थान' मानते हैं और इसी आधार पर इस शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं।

(५) 'ऋग्वेदिक भारत' में सरस्वती नदी के किनारे या उसके उद्गम के निकटवर्ती हिमालय प्रदेश में मूल-स्थान माना गया है।—अविनाशचन्द्रदास। डा० सम्पूर्णानन्द ने दास के इस मत का एक प्रकार से समर्थन किया है। उपर्युक्त

मतों की कल्पना वेद-पुराण आदि प्राचीन साहित्य के आधार पर की गई है। भारतीय साहित्य में कहीं पर भी स्पष्ट रूप से आर्यों के बाहर से आने का उल्लेख नहीं मिलता है।

खण्डन—भारत में आर्यों की आदि भूमि होने की संभावना के विरुद्ध विद्वानों द्वारा निम्न प्रश्न उठाये गये हैं—(१) इस परिवार (भारोपीय) की अधिकांश भाषाएँ यूरोप और एशिया के सन्धिस्थल पर या यूरोप में हैं, भारत के आसपास नहीं हैं। ऐसी स्थिति में भारत से निष्क्रमण की संभावना कम है। यह सम्भावना अधिक है कि उधर से एक धारा आई और उसी के लोग भारत के उत्तरी भाग में बस गये, शेष लोग वहीं आसपास रह गये।

२. यदि भारत आर्यों का मूल-स्थान रहता तो सम्पूर्ण भारत में एक परिवार मिलता। उत्तर में ब्राहुई तथा दक्षिण में तामिल-तेलुगू का मिलना इसके विपक्ष में पड़ता है।

३. मोहन-जो-दड़ो का काल ऋग्वेद के पूर्व का है। यदि उसकी भ संस्कृत से मिलती-जुलती होती तो यह मान्य हो सकता था कि मूल-स्थ भारत में था। परन्तु वहाँ की भाषा द्रविड़ परिवार की मानी जाती है, अ यह संभावना है कि वहाँ के आदिवासी द्रविड़ थे। आर्य पश्चिम या पश्चिम स्तर से यहाँ आये।

४. तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर हित्ती या लिथुआनि भाषाएँ मूल भाषा से संस्कृत की अपेक्षा अधिक निकट हैं। अतः मूल-स्था की सम्भावना हित्ती के आसपास है।

५. जातीय मानव-विज्ञान, जलवायु-विज्ञान, प्राचीन भूगोल तथा तुलना- त्मक भाषा-शास्त्र के आधार पर न केवल यूरोपीय अपितु तिलक और सर देसाई जैसे भारतीय विद्वानों ने भी मूल स्थान की कल्पना भारत के बाहर ही की है।

(अ) मूलस्थान की भारत से बाहर स्थिति—भारतीय विचारधारा के अनुसार मानव-सृष्टि का प्रारम्भ त्रिविष्टप (तिब्बत) प्रान्त में हुआ और उसी को आर्य लोगों का मूल-स्थान आंका जाता है। कहा जाता है कि आर्यों के विस्तार का स्रोत यही स्थान है। वैदिक संहिताओं की प्राचीन ऋचाओं

'सप्तसिन्धु' का अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है तथा अर्वाचीन ऋचाओं में पूर्व प्रदेशों की ओर संकेत भी मिलता है। इसी आधार पर कुछ मत भी दिये गये हैं—

(१) अविनाशचन्द्रदास 'सप्तसिन्धु' प्रदेश को आर्यों का मूलस्थान मानते हैं।

(२) सर देसाई ने आर्यों का आदि-स्रोत रूस में बाल्टिक झील के समीप माना है। उनके कथनानुसार आज भी उक्त प्रदेश में 'सप्तसिन्धु' नामक प्रान्त है।

(३) लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने अपनी पुस्तक 'आर्कटिक होम इन दी वेदाज' में इस विषय में एक गवेषणात्मक लेख प्रस्तुत किया है जिसमें आर्यों के मूल निवास-स्थान को उन्होंने उत्तरी ध्रुव के निकट माना है। उनका कथन है कि हिम प्रदेश से आर्यों का निष्क्रमण अन्तिम 'हिमयुग' के समय हुआ था। प्रमाण में उन्होंने ऋग्वेद की ऋचाओं तथा कीन के हिमयुग सिद्धान्तों का सहारा लिया है।

'ऋग्वैदिक इण्डिया' नामक पुस्तक में दास ने तिलक के इस मत का खण्डन किया है और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आर्यों का निवास-स्थल सरस्वती नदी का हिमाचल मध्यवर्ती उद्गम स्थान था। मनुस्मृति आदि प्राचीन ग्रन्थों में 'ब्रह्मावर्त' के महत्व और पुण्य का वर्णन इसी दृष्टि से किया गया है। कहा जाता है कि इस स्थान से आर्य लोग ईराक में बसे।

(४) पण्डित राहुल सांकृत्यायन का मत है कि वोल्गा के आसपास एक जनसमूह था जिसके दो वर्ग हो गये। एक वर्ग जो पश्चिम को मुड़ गया दूसरा वर्ग आर्य जो भारत आया।

(५) यूरोपीय विद्वानों में गहराई और वैज्ञानिकता की दृष्टि से इस क्रम में प्रथम नाम प्रायः मैक्समूलर का लिया जाता है। इनके अनुसार मूल-स्थान पामीर का प्लेटो तथा उसके पास मध्य एशिया में संभव था।

(६) डा० लैथम ने स्केण्डेनेवियन भाषाओं को प्रमुख आधार मानकर आर्यों का मूल-स्थान यूरोप में माना। वह भी स्केण्डेनेविया के पास में। पेन्का

जातिविज्ञान के अध्ययन के अनुसार इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं।

(७) इटैलियन मानव शास्त्रवेत्ता सेर्जी ने एशिया माइनर के पठार में मूल स्थान का अनुमान लगाया है। हिमी भाषा के अभिलेखों से इनके मत की पुष्टि होती है।

(८) डा० गाइल्स ने 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया' में हंगरी में कार्पेथियन पर्वत के आसपास भारोपीय मूल-स्थान माना है।

(९) नेहरिंग (Nehring) ने मिट्टी के बर्तनों के अवशेषों के आधार पर दक्षिणी रूस को मूल-स्थान माना है। कुछ विद्वानों ने मानव-विज्ञान के आधार पर जर्मनी को मूल-स्थान माना है।

(१०) इतिहास-पूर्व पुरातत्व के आधार पर मच तथा कुछ अन्य विद्वानों ने पश्चिमी-बाल्टिक तट को मूल-स्थान कहा है।

(११) हर्ट ने आदि स्रोत पोलैण्ड में विस्चुला नदी के तट पर माना है। इस मत के अनुसार उनके पश्चिमी तट पर केन्तुम् तथा पूर्वी तट पर सतम् भाषा-भाषी जन रहते थे। यह मत 'तोखारी' नाम केन्तुम् भाषा के मिलने से प्रायः निराधार हो गया है।

(११) स्लाव भाषा-शास्त्री प्रो० थ्रेंडर ने दक्षिणी रूस में बोलगा नदी के मुहाने और कैस्पियन सागर के उत्तरी तट के निकटवर्ती प्रदेश को मूल-स्थान माना है। कई विदेशी विद्वान इससे सहमत हैं।

(१३) डा० ब्रान्देन्स्ताइन ने (१९१६ में) तुलनात्मक और ऐतिहासिक अर्थ-विज्ञान के आधार पर मध्य एशिया वाले मत को पुनः स्थापित किया है। और यूराल पर्वत-माला के दक्षिण में स्थित प्रदेश को मूल-स्थान सिद्ध किया है।

(१४) उपर्युक्त मतों के अतिरिक्त लिथुआनिया, बाल्टिक सागर के दक्षिणी पूर्वी तट, मेसोपोटामिया या दजला-फरात सरिताओं के तट पर, प्रशिया, डेन्यूब नदी के किनारे, रूसी तुर्किस्तान आदि कई अन्य प्रदेशों के मूल स्थान होने के पक्ष में भी मत प्रकट किये गए हैं। गाइल्स, थ्रेंडर तथा ब्रान्देन्स्ताइन के मत अब तक अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध माने गए हैं।

ब्रान्देन्स्ताइन (Brandenstein) का मत—अब तक यही मत अधिक पुष्ट रूप में स्वीकार किया जा रहा है। डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी इसी मत के पक्ष

[illegible] है कि [illegible] करते हैं। [illegible] के अनुसार [illegible] के बाद यह [illegible] हुआ है कि [illegible] रहते थे। बाद में ईरानी [illegible] और इस शाखा ने भी स्थान-परिवर्तन कर दिया। [illegible] पूर्व आर्योरोप तथा भारत-ईरानी के विभाजन के [illegible] कहे जा सकते हैं। इस मत के अनुसार [illegible] की दृष्टि से [illegible] के बाद विभाजन का [illegible] के बाद का। पश्च-आर्योरोप का विकास पूर्व आर्योरोप [illegible] किसी नवीन क्षेत्र में हुआ होगा क्योंकि दोनों के [illegible] में कुछ भिन्नता है। तात्पर्य यह है कि 'पूर्व आर्योरोप' [illegible] की तराई में रहते थे। [illegible] थे। केवल [illegible] तथा अन्य [illegible] का उन्हें ज्ञान था। [illegible], भेड़, बकरी, कुत्ता [illegible] सूअर, हिरण आदि से भी वे परिचित थे। [illegible] के मत में यह स्थान यूराल पर्वत के दक्षिण-पूर्व में स्थित किरगीज़ का मैदान था। पश्च-आर्योरोप पश्चिम की ओर नीचे समतली क्षेत्र में गये। यहीं [illegible] पेड़ आदि उन्हें नवीन वस्तुओं का ज्ञान हुआ। यह अनुमानित स्थान कार्पेथियन पर्वत-माला के पूर्व में था।

आर्यों का आदिम स्थान पूर्वी योरोप में बाल्टिक सागर के निकटवर्ती प्रान्त में था। अधिकतर विद्वान् इसी मत को प्रमुखता देते हैं। प्राचीन मत के अनुसार यह मार्ग कैस्पियन सागर के उत्तर से मध्य एशिया में होकर माना जाता है। कुछ दिन पूर्व ईरान तथा टर्की में २५०० ई० पू० के एक लेख में तथा १४०० ई० पू० के बोग़ाज़ के कई लेखों में प्राचीन आर्यों के देवताओं के नाम जैसे इन्द्र, वरुण, उरुवन का उल्लेख प्राप्त हुआ है। इससे स्पष्ट है कि भारत-ईरानी बोलने वालों का समूह काले समुद्र के पश्चिम से होकर आया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसी समुदाय में से कुछ ईरान में बसते हुए आगे मध्य एशिया तक भारत में बढ़ सकते हैं। सम्भवतः मध्य एशिया की प्रशाखा के लोग हिन्दूकुश की घाटियों में होकर बाद में दरदिस्तान [illegible] कदाचित आकर बस गये हों और यही वर्तमान पैशाची या

[illegible]

[illegible]

[illegible]

१. [illegible] प्रयत्न-लाघव [illegible]

२. अभिव्यक्ति की सुविधा तथा नवीनता के लिए लोग नए रूपों का प्रयोग करना प्रारम्भ कर देते हैं। कभी-कभी एकरूपता के कारण भ्रम हो जाता है। अतः नवीन रूप या प्रत्ययों के द्वारा अनेकरूपता की स्थापना कर दी जाती है और परिणामतः भ्रम का निवारण हो जाता है। जैसे भोजपुरी में—

एकवचन	बहुवचन
चोर जात है	चोर जात हउवन

यहाँ 'है' का बहुवचनान्त रूप 'हउवन' हो गया।

के लिए 'न' प्रत्यय का प्रयोग बहुलता से होता है। जैसे एक वचन में सरिका और बहुवचन में सरिस्न। अनेक रूपों की समानता से भ्रांति पैदा हो जाती है। इस भ्रांति के निवारण के लिए तथा अधिक स्पष्टता लाने के लिये अनेकता बना ली जाती है।

(५) बल—किसी शब्द पर बल देने से भी रूप-परिवर्तन हो जाता है और नये रूपों की सृष्टि हो जाती है। ये रूप व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हो जाते हैं। अनेक (एक नहीं) शब्द बहुवचन है परन्तु अनेकों' का प्रयोग बहुत स्थानों पर कर दिया जाता है। 'ओं' प्रत्यय का प्रयोग बल देने के लिये है।

( ) अनेकरूपता—शब्दों की अनेकरूपता भी सादृश्य की शक्ति से आ जाती है। संस्कृत में सूर्य और सविता समानार्थक हैं पर सविता शब्द स्त्रीलिंग है पर सूर्य पुंलिंग है। सविता का लता से सादृश्य हो उसके स्त्रीलिंग का द्योतक है। इसी प्रकार शौर्य तथा सौन्दर्य पुल्लिंग और शूरता और सुन्दरता स्त्रीलिंग हैं।

प्रश्न १४—बौद्धिक नियमों का परिचय दीजिये।

अर्थ के विकास के पीछे कुछ कारणों का योग सन्निहित रहता है। कील आदि कुछ भाषा-शास्त्रियों ने इन कारणों तथा परिवर्तनों को बुद्धिगत माना है। इन विकारों के अनुशीलन के पश्चात् जो नियम निर्धारित किये जाते हैं वे बौद्धिक नियम कहलाते हैं। बौद्धिक नियम अर्थ-विकारों का बुद्धिसंगत समाधान प्रस्तुत करते हैं। बौद्धिक नियमों का विवेचन निम्न रूप से किया जा सकता है।

(१) विशेषीकरण का नियम (Law of specialization)—इसे विशेष भाव का नियम भी कहते हैं। अनेक शब्दों या प्रत्ययों में से किसी विशेष भाव या स्थिति के फलस्वरूप एक-दो रूपों के अवशिष्ट रूप को विशेष भाव का नियम कहते हैं। अनेक प्रचलित रूपों का धीरे-धीरे ह्रास होता जाता है और उनमें कुछ रूप अवशिष्ट रहते हैं। ये अवशिष्ट या जीवित रूप के अस्तित्व में मानव मस्तिष्क की एक विशेष भावना काम करती है। संस्कृत के तरप् (पटुतर, महत्तर, कुशलतर) और ईयसुन (पटीयस्, घनीयस् गरीयस्) दो प्रकार

[illegible] अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ [illegible]

[illegible] — इस दिशा [illegible] अर्थ का [illegible] जाता है [illegible] [illegible] देते हैं। अर्थोत्कर्ष में [illegible] — (क) किसी शब्द से [illegible] अर्थ का [illegible] जाता है। (ख) कभी वह शब्द विशेष [illegible] अर्थ को [illegible] है। (ग) कभी इस शब्द से किसी नवीन अर्थ का [illegible] करता है। (घ) [illegible] कभी अनेक समानार्थक शब्दों में [illegible] के आधार पर [illegible] शब्द की प्रवृत्ति का कोई अंश को [illegible] ग्रहण करने से एक नवीन अर्थ का [illegible] जाता है। (ङ) कभी कभी शब्द की पूरी प्रवृत्ति ही [illegible] का कार्य करती है। उदाहरण रूप में [illegible] अर्थ के साहब से साहिबी ठाठ, मुनीमी ढंग, नवाबी शान में उद्योतन हो गया है। बीबी, मोटी, [illegible] से एक साथ [illegible] मुख: मोटा, गोरा, बड़ा, [illegible] हो जाते हैं। वाली प्रत्यय का प्रयोग ठीक

अर्थ में होना है यथा—कबूतरबाजी, शराबबाजी, जुआबाजी।

कभी-कभी प्रकृति का अंश भी उद्योतन के द्वारा प्रत्यय बन जाता है, यथा 'पश्चात्' प्रकृति है, उससे पाश्चात्य रूप बना है और पौर्वात्य और दाक्षिणात्य भी पाश्चात्य के सादृश्य पर बने है।

(३) भेदीकरण का नियम (Law of differentiation)—भेदीकरण की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—'पार्थक्य के अनुसार अथवा किसी ऐतिहासिक कारण से जो शब्द समानार्थी प्रतीत होते है वे ही शब्द प्रकृति तथा प्रक्रिया के द्वारा अपने अभिन्न अर्थ को छोड देते हैं तथा भिन्न अर्थ मे प्रयुक्त होने लगते है, उसे भेदीकरण कहते है। पर्यायवाची तथा समानार्थी शब्दों का जब सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया जाता है तो उनका छिपा हुआ भेद या रहस्य प्रकट हो जाता है। इस मानसिक उन्नयन तथा सूक्ष्मदर्शक बुद्धि से समानार्थी शब्दो की विभिन्नता का द्योतन भेदीकरण नियम के नाम से जाना जाता है। इसमे मानसिक स्तर की उच्चता तथा व्यापकता अपेक्षित है। जैसे डाक्टर, वैद्य तथा हकीम आदि शब्द पर्यायवाची है परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से इनमें भी भेद लक्षित होता है। डाक्टर मे एलोपैथी या होम्योपैथी प्रणाली के चिकित्सक का ज्ञान होता है। हकीम यूनानी तथा वैद्य आयुर्वेदिक पद्धति के चिकित्सक के अर्थ मे ग्रहण किया जाता है। उपर्युक्त शब्द तीन भाषाओं के है परन्तु एक भाषा के शब्दों मे भी भेद की प्रवृत्ति मिलती है। जैसे सिन्धु बाग, बगम आदि मे प्राणी-अनुसार भेद है। संस्कृत और अन्य भाषा में भी भेदीकरण का नियम द्रष्टव्य है। 'बछड़े' के समानार्थी शब्द भी अपने अर्थ तथा अर्थ मे भिन्नता रखते है यथा सं० वत्स से बछड़ा (नर का) बछिया (मादा का), पडवा (भैंस का) तथा तिल्ला (कुत्ते का)। सं० पत्र से पत्ता (वृक्ष का भाग), पत्तर (धातु), पतवा (पत्ते का दल) में भी भेद लक्षित है। इसी प्रकार [illegible] भेद है।

[illegible]

जिए तथा सामान्य रूप से बैठिये शब्द का प्रयोग किया जाता है। जो समाज जितना ही अधिक सभ्य तथा सुसंस्कृत होगा अर्थ-भेद की मात्रा उतनी ही भाषा में मिलेगी।

(४) भ्रम या मिथ्या प्रतीति का नियम (Law of False Perception)—किसी शब्द के रूप को देखकर हमें कभी-कभी भ्रमवश उस शब्द के अन्य अर्थ का भाव होने लगता है और आगे चलकर वही भ्रामक अर्थ प्रचलित हो जाता है। फलतः अर्थ में विकार पैदा हो जाता है। यही मिथ्या प्रतीति का नियम है। स्वराघात तथा बलाघात से इस प्रकार के रूपों का सर्वप्रथम निर्माण हुआ और बाद में वही ग्राह्य होकर व्याकरण का अंश बन गये। व्याकरणिक उद्घोतन से शब्दों में प्रकृति प्रत्यय का ज्ञान न होने से उनका रूप भ्रमवश सामान्य तथा स्वाभाविक समझ लिया गया। यथा श्रेष्ठ (=सबसे अच्छा) का निर्माण प्रशस्य+इष्टन् से हुआ है। इष्टन् प्रत्यय की प्रकृति का स्वरूप स्पष्ट न होने से इसे मूल शब्द समझा जाने लगा। इसके भी प्रत्ययान्त रूप श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर, श्रेष्ठतम रूप में प्रयुक्त होते हैं। ज्येष्ठ भी इसी प्रकार का रूप है।

शब्द रूपों की इस मिथ्या-प्रतीति से अर्थ के उत्कर्ष और अपकर्ष का भाव भी हो जाता है। प्राचीन साहित्य में असुर का अर्थ 'देवता' था जिसकी रचना असु=प्राण शब्द में हुई परन्तु अब इसका अपकर्ष अ+सुर=राक्षस के अर्थ में हो गया है। साहसी का पूर्व अर्थ 'डाकू' था परन्तु उत्कर्ष होकर इसका प्रयोग अदम्य उत्साह के लिए होने लगा। भ्रमवश कभी-कभी दुहरे प्रयोग बन जाते हैं। जैसे परन्तु फिर भी (एक प्रयोग उचित है), गुल रोगन (=तेल) का तेल, गुलमेहदी का फूल (गुल=फूल), हिमाचल पर्वत मलयागिरि (=पर्वत) पर्वत, काबुल वाला के स्थान पर काबुलीवाला आदि शब्दों के द्वित्व रूपों का प्रयोग प्रचलित है।

(५) विभक्तियों के अवशेष का नियम (Law of Survival of Inflections)—जैसे भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर अग्रसर होती है तो ध्वनि लोप के कारण विभक्तियों का लोप हो जाता है तथा उनके स्थान पर कारक-चिह्न या परसर्गों का प्रयोग होने लगता है। हिन्दी में संस्कृत विभक्तियों का लोप होकर परसर्ग जुड़कर विभक्तियों का भाव प्रकट करने लगे।

इन मृत विभक्तियों के अस्तित्व को बनाए रखने की मनोवृत्ति कभी कभी भाषा में दिखाई पड़ जाती है, जैसे हटात्, दैवात् दैवयशात् आदि। सूक्ष्म दृष्टि से अर्थ परिवर्तन का सूत्र भी ऐसे रूपों में दृष्टिगत होता है, यथा कृपया का अर्थ 'कृपा से' न होकर 'कृपा करके' लिया जाता है। इसी प्रकार परिणामतः का अर्थ 'परिणाम से' (पंचमी प्रत्यय का रूप) न लेकर 'परिणाम स्वरूप' के अर्थ में लिया जाता है। भोजपुरी रूप 'घरे', 'दुआरे' में सप्तमी—'ए' का मूल रूप अब भी सुरक्षित है।

(६) नये लाभ के नियम—भाषा में जब एक ओर कुछ प्रत्यय, विभक्तियों का लोप होता है तो दूसरी ओर नए रूपों और अर्थों का विकास होता है। प्रसिद्ध भाषाविद् वेंद्रिय ने, कर्मवाच्य, क्रिया-विशेषण, अव्यय तथा कृदन्त को ह्रास के परिणामस्वरूप नवीन रूपों में लिया है। उनके मत में ह्रास हुए रूपों की क्षतिपूर्ति नवीन रूपों के भाषा में आने से हो जाती है। क्रिया रूपों में अव्यय कृदन्त तथा क्रिया विशेषण का अस्तित्व सर्वत्रीन तथा आधुनिक अवस्था की चीज है। वेंद्रिय के अनुसार जब संज्ञा या विशेषण का कोई विशिष्ट रूप विभक्तियों का त्याग कर अव्यय रूप में स्थित हो जाता है तब उसका यह रूप क्रिया-विशेषण बन जाता है। उदाहरणार्थ चिरम् आगत्य' (देर से आया हुआ) में चिरम् की द्वितीया विभक्ति का रूप अव्युत्पन्न होकर अव्यय रूप में आ गया तथा चिरम विशेषण को क्रिया-विशेषण के रूप में ग्रहण किया जाने लगा। बलात् से अकस्मात् इसी प्रकार के रूप हैं।

(७) उपमान का नियम—प्रचलित शब्द के अनुकरण पर नवीन शब्द की सृष्टि भाषा में होती रहती है। मानव भाव तथा रूप-साम्य के आधार पर नए शब्दों का प्रयोग सरलता तथा सुविधा के लिए करता है। यह उपमान का नियम सरल तथा समान रूप की रचना में सहायक होता है। इस नियम का उपयोग भाव-प्रकाशन की कठिनाई को दूर करने तथा भाव तथा रूप में स्पष्टता लाने के लिए होता है। किसी विषय अथवा सादृश्य को शक्तिशाली बनाने में तथा प्राचीन और नवीन नियमों से नए रूप की संगति बैठाने में इसका प्रबल हाथ है। अनुमान किया जाता है कि भारोपीय काल में शब्दों के अनेक प्रत्यय तथा रूप थे परन्तु संविधानसार उपमान के सहारे वैदिक युगीन

आदर के एक अर्थ को अवीरता के साथ ग्रहण किया तो दोनों अर्थों को अलग-अलग दो शब्दों के साथ ग्रहण किया। इसी प्रकार संस्कृत के दो शब्दों के 'शिर' और 'शीर्ष' शब्दों में उनमें भेद किया। संस्कृत में 'शिर' को, जो देह में 'शीर्ष' को कहा गया। संस्कृत के 'कर्ण' और अंग्रेजी के 'ईयर' ने किया जिसका 'श्रुति' और से किया है।

(८) अनुप्रयोगों की विभाजन—जब एक भाषा में एक अर्थ की अनेक शब्दों का प्रचलन होता है तो प्रयोगानुसार उनमें से कुछ विशिष्ट अर्थ द्योतित रहते हैं तथा अन्य शब्दों को अनुप्रयोगों के अनुसार उनका प्रयोग कम हो जाता है। संस्कृत के अनेक शब्द ऐसे हैं। वैदिक संस्कृत में अनेक धातुओं के एक ही अर्थबोधी अनेक रूप प्रयुक्त किए गए हैं परन्तु लौकिक संस्कृत तक आते-आते उनके कुछ विशिष्ट रूप ही अवशिष्ट रहे। शेष रूप अनुप्रयोगिता के कारण व्यवहृत न हो पाये। यही स्थिति लौकिक संस्कृत और प्राकृत अथवा अपभ्रंश तक रही और यही प्रवृत्ति आधुनिक हिन्दी आदि भाषाओं में भी दिखाई देती है। उदाहरण रूप में वैदिक संस्कृत में देखने के अर्थ में दो धातुएं थीं—दृश् और पश्य पर उत्तरयुग में 'पश्य' को एक धातु 'दृश' का आदेश मान लिया गया। इसी प्रकार हिन्दी में संस्कृत के वचन का लोप हो गया। अनेक-अनेक शब्दों का लोप अधिकता से दिखाई देता जब कि एक रूप वाले पद भाषा में प्रायः स्थिर रहे। इन रूपों का अर्थ भी अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है।

प्रश्न १५—अर्थ-परिवर्तन की दिशाओं के आधार का उल्लेख कीजिए उपयुक्त उदाहरण भी दीजिए।

शब्द और अर्थ का अभिन्न सम्बन्ध है। शब्द और अर्थ का योग ही भाषा को सार्थक और भावगम्य बनाता है। वास्तव में अर्थ ही शब्द का प्राण है। बिना अर्थ प्रतीति के शब्द का अस्तित्व व्यर्थ तथा निष्फल है। भाषा परिवर्तन से शब्द और अर्थ दोनों में ही विकार पैदा हो जाता है। अर्थतत्व के परिवर्तन या विकास की अनेक अवस्थाएँ है। कभी शब्द के अर्थ का विस्तार होकर उसका क्षेत्र व्यापक हो जाता है यथा तेल प्राचीन समय में 'तिल के सार' का द्योतक था पर अब सभी वस्तुओं के तेलों के लिए इसका प्रयोग होता है।

कभी अर्थ में संकोच हो जाता है। इस प्रकार अर्थ-परिवर्तन या विकास की एक दिशा नहीं अपितु विभिन्न दिशाएँ हैं।

अर्थ परिवर्तन की दिशाएँ

अर्थ-विज्ञान के ज्ञाता ब्रील के अनुसार अर्थ-विकास की प्रमुखतः तीन दिशाएँ हैं— १. अर्थ-विस्तार, २ अर्थ-संकोच और ३. अर्थादेश। कुछ अन्य दिशाएँ भी हैं जिन पर आगे प्रकाश डालना अनिवार्य है।

१. अर्थ-विस्तार (Expansion of meaning)—अर्थ-विस्तार में शब्दों का अर्थ एक संकीर्ण सीमा का अतिक्रमण कर व्यापक रूप धारण कर लेता है। अर्थ का विस्तृत होकर व्यापक हो जाना ही अर्थ-विस्तार है। यह अर्थ-विस्तार भाषा में कम मात्रा में होता है। कारण स्पष्ट है कि भाषा के अधिक उन्नत, समृद्ध और विकसित हो जाने पर उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म और सीमित से सीमित भावनाओं को अभिव्यंजित करने की शक्ति आ जाती है। अतः स्वाभाविक रूप से अर्थ सामान्य से विशेष की ओर विकसित हो जाता है। अर्थ संकोच का आधिक्य हो जाता है। अर्थ-विस्तार से अर्थ का सामान्य रूप बढ़ जाता है।

उदाहरणार्थ—'गवेषणा' शब्द आदि में गाय खोजने में प्रयुक्त होता था पर आज प्रत्येक शोध-कार्य तथा खोज के लिए इसका प्रयोग होता है। आरम्भ में काले रंग को स्याही कहते थे परन्तु नीली, लाल रोशनाई के लिए भी यह शब्द सामान्य रूप से व्यवहृत होता है। पूर्वकाल में पुण्य करने वाले को 'निपुण', खाने में चतुर को 'कुशल' तथा वीणा बजाने में सिद्धहस्त को 'प्रवीण' कहते थे परन्तु आज तीनों शब्दों का प्रयोग सामान्य रूप से सब काम में पूर्ण दक्ष या चतुर अर्थ में होता है। 'गोहार' गौ के हरण पर की गई पुकार को कहते थे पर अब सब प्रकार की प्रार्थना 'गोहार' है। 'सब्जी' सब्ज (हरा) के आधार पर हरी सब्जियों का पर्याय था, किन्तु अब सभी साग सब्जियाँ हैं। अतः अर्थ का विस्तार हो गया है। कई बार व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ जाति-वाचक बन कर विस्तार कर लेती हैं। जैसे लड़ाई कराने वाले को 'नारद' या घर के भेदिए को 'विभीषण' कह देते हैं। यहाँ तो अनेक 'कालिदास' हैं न कवि कालिदास के समान विद्वानों का अर्थ है।

२. अर्थ-संकोच (Contraction of meaning)—अर्थ का सिकुड़ना या

च्चा, पाखण्डी' का प्रयोग नीच, कपटी तथा पाखण्डी के अर्थ में प्रयुक्त हो
। इसी प्रकार, बाबूगीरी, यारी, दोस्ती, महाराज, महाजन का प्रयोग
ुआ है।

६. अर्थापदेश—यह अर्थादेश के विपरीत है। इसमें अप्रिय तथा अमं
ूचक बातों को प्रिय तथा सुन्दर ढंग से कह दिया जाता है। जिससे उनका
कम हो जाता है तथा अशोभन में शोभन तथा भयानकता में सुन्दरता दि
देती है। चेचक रोग के लिए माता, देवी का प्रयोग इसी का उदाहरण
विधवा होने के स्थान पर—सिन्दूर पुँछ गया, चूड़ी टूटना, सिन्दूर लुटना
शब्दों का शोभनता के लिए व्यवहार किया जाता है। स्वर्गवास होना, प
सिधारना तथा दिवंगत होना शब्दों का प्रयोग किसी व्यक्ति की मृत्यु पर
के लिए किया जाता है।

७. अर्थ भेद—जब किसी शब्द का अर्थ परिवर्तित होकर अन्य भ
भिन्नता धारण कर लेता है वहां अर्थ-भेद होता है। यह अर्थ में भेद भी
अनायास ही बिना कारण के प्रयोग द्वारा हो जाती है।

उदाहरण के लिए—संस्कृत शब्द 'घर्म्य' हिन्दी भाषा में 'घाम' अ
जिसका अर्थ धूप है पर बंगला भाषा में पहुंचने पर इस शब्द का अर्थ
हो गया। हिन्दी सहन = बर्दाश्त तथा अरबी में औरत, मस्तून में कुच
तथा अरबी कुल = समस्त के अर्थ में आता है।

८. अर्थ का मूर्तिकरण तथा अमूर्तिकरण—मूर्त भाव कभी-कभी अ
सूक्ष्म तथा भाव रूप में परिवर्तित हो जाता है जिसके कारण अर्थ म
हो जाता है। 'स्वाभिमान की रक्षा के लिए गज भर कलेजे की आव
है', इस वाक्य में कलेजे का अर्थ हृदय न होकर 'साहस' है। इसमें क
में सूक्ष्मता का समावेश हो गया है। इसके विपरीत कभी शब्द क
अर्थ मूर्त हो जाता है। वह अर्थ भाव, क्रिया, गुण को त्याग कर किसी
या द्रव्य का बोध कराने लगता है। माता और समकोन भावबोधक शब्द
कभी मिठाई के रूप में प्रयुक्त होकर मूर्त रूप धारण कर लेता है।
होते हुए भी जीविका का अर्थ देते हैं।

र बल दिया जाता है तो उस शब्द की अन्य ध्वनियां उपेक्षित होकर निर्बल
ो जाती है तथा धीरे-धीरे लोप होने लगती हैं. यथा उपाध्याय के 'भा' ध्वनि
ा रूप इसी बलापसरण का फल है। इसी प्रकार किसी शब्द के अर्थ के
धान पक्ष से हट कर बल अन्य पक्ष पर पड़ जाता है तो धीरे-धीरे वही अर्थ
मुख हो जाता है और प्रधान अर्थ हट जाता है।

उदाहरणार्थ—गोस्वामी का अर्थ 'गायों का स्वामी' था। गायों के स्वा-
त्व तथा सेवा की भावना से धर्म के सम्मिश्रण से इसका उत्तर अर्थ 'माननीय
र्मिक व्यक्ति' हो गया और सन्तों के लिए इसका प्रयोग हुआ। अरबी शब्द
लाम' तथा अंग्रेजी का 'नेव' (knave) का अर्थ लड़का था परन्तु दास-प्र
: बल अपसरण के कारण इनका अर्थ सेवक तथा शरारती हो गया। 'जुगुप्सा'
पालन करने से घृणा करने के अर्थ में इसी कारण से आया।

२. पीढ़ी-परिवर्तन—मानव कभी भी पूर्ण तथा शुद्ध रूप से अनुकरण करने
असमर्थ रहा है। शब्द की ध्वनि या अर्थ में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य पड़
ा है। नई पीढ़ी के लोग पुरानी पीढ़ी के शब्दार्थों का अनुकरण करते समय
क त्रुटियां कर बैठते हैं। हमारे पूर्वज पहले पत्तों पर लिखते थे। बाद वाली
ति ने लिखित सामग्री को पत्र समझ लिया और भोजवृक्ष की छाल पर
ने के कारण उनको भोजपत्र के नाम से पुकारा। आज भी सुपर्ण और
पत्र होते हैं। धीरे-धीरे पत्र पत्रलेपन का सूचक बन गया। तेल और
ल (कुशा लाने में चतुर) के अर्थ का इसी तरह का इतिहास है।

३. वातावरण में परिवर्तन—वातावरण में परिवर्तन से अर्थ-विकार हो
ा है। भौगोलिक वातावरण के परिवर्तन से अर्थ भी बदल जाते हैं। अंग्रे
जी शब्द Corn सामान्य रूप से अन्न के लिए प्रयुक्त होता है परन्तु अम-
ा में यह मक्का का वाचक है। प्राचीन वैदिक ऋचाओं में 'उष्ट्र' का प्रयोग
नो बैल' के लिए होता था परन्तु बाद में ऊंट के लिए होने लगा।

शब्दार्थ में परिवर्तन का कारण सामाजिक वातावरण भी है। गिरजा-
में उपदेशिका के लिए Mother और अध्यात्म में अर्थ के लिए Sister
अर्थ माता और बहिन से भिन्न होता है। व्याख्यान-दाता के लिए भाई,
ा का अन्य ही अर्थ सूचित है। लौकिक प्रचार तथा रीति-रिवाज में परि-

श्लीलता छिपाने के लिए अच्छे शब्दों का व्यवहार किया जाता
ति शब्दों की अभिरामता से अधिक आकर्षित हो जाती है।
को—बाहर जाना, शौच जाना तथा दिशा जाना और निवृत्त
हा जाता है। गर्भिणी होने को—'पाँव भारी होना' तथा पेशाब
तथा 'लघुशंका' कहा जाता है।
ा भयंकरता को छिपाने का भी मानव प्रयत्न करता है।
गार्थ—चेचक को देवी या माता तथा हैजा में कै-दस्त होने को
ट चलना' कहा जाता है 'चेचक' में गर्मी अधिक होने को 'शीतला'
है। कभी-कभी गंदे या छोटे कार्यों को भी मधुर शब्दों के
ना दिया जाता है। भंगी को जमादार या मेहतर (महत्तर) तथा
क करने को 'कमाना' कहा जाता है। पंजाबी में नाई को राजा
है। भंगिन को महतरानी तथा रसोइए को महाराज या ठाकुर
है। इस प्रकार की भावना से शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो

य—व्यंग्य के कारण शब्दार्थ में विकार अर्थादेश के अन्तर्गत
र आगे उन शब्दों का नवीन अर्थ ही प्रचलित हो जाता है। मूर्ख
'पूरे पण्डित', 'पूरे देवता', 'दिमाग का पूरा', 'अक्ल का खजाना'
चल पड़े हैं। 'पूरे हरिश्चन्द्र के अवतार' असत्यवादी तथा 'लक्ष्मी'
न व्यक्ति के लिए व्यंग्यरूप में प्रयोग किया जाता है।
र्थितगत योग्यता—शब्द का अर्थ भावना पर भी अधिकांशतः टिका
एक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत सामर्थ्य तथा भावना के अनुसार भाषा
समझता है। उदाहरणार्थ 'शून्य' शब्द का अर्थ दार्शनिक के लिए
: एक वैज्ञानिक के लिए कुछ और तथा एक गणितज्ञ के लिए कुछ
होगा। शब्दों में अर्थ का अनिश्चय होने पर ही एक शब्द का
त अर्थ लिया जाता है। 'कर्तव्य' के अर्थ की एक निश्चित सीमा न
ने अर्थ में भी भेद हो जाता है। इसी प्रकार के शब्द पाप, पुण्य,

विशेषता आ जाती है और अर्थ में परिवर्तन आ जाता है। क्रोध के आवेश में आकर शब्दों का विचित्र अर्थ में प्रयोग होने लगता है। क्रोध में उच्चरित शब्द 'बच्चू' बच्चा का वाचक शब्द न होकर तुच्छता का प्रतीक बन जाता है। इसी प्रकार 'राक्षस' और पाजी में एक प्रकार की हीनता का भाव रहता है। स्नेहातिशय में भी कठोर शब्द में प्रेम तथा स्नेह का भाव पल्लवित हो जाता है। माता का प्रेम के आवेश में पुत्र को 'पाजी' गदहा, दुष्ट पगला तथा 'शैतान' कहना बुरे अर्थ में प्रयुक्त न होकर पुत्र की चपलता आदि गुणों का द्योतक होता है।

१०. भाषान्तर—जब एक शब्द एक भाषा से अन्य भाषा में प्रविष्ट होता है तो उसके भाव या अर्थ में थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य आ जाता है। जैसे—फारसी में मुर्ग का अर्थ 'पक्षी' है पर हिन्दी में एक पक्षी विशेष का नाम है। यहाँ अर्थ-संकोच हो गया है। फारसी का नदी वाचक 'दरिया' शब्द गुजराती समुद्र का अर्थ देने लगा। संस्कृत का 'नील' शब्द गुजराती में 'लीलो' बनकर हरे रंग का द्योतक हो गया। हिन्दी की वाटिका (बगीचा) बंगाली में बाड़ी (घर) बन गया।

११. भावों की स्पष्टता के लिए अलंकार-प्रयोग—अर्थ शास्त्र के मनीषी ब्रील का कथन है कि अलंकारों के कारण अर्थ-परिवर्तन एक क्षण में हो जाता है। आलंकारिक भाषा का प्रयोग भावों के स्पष्ट चित्रण के लिए किया जाता है।

उदाहरणार्थ—पत्थर (कड़े हृदय का) बिना पेंदी का लोटा (जिसका कोई निश्चय न हो) बैल (मूर्ख) का प्रयोग अर्थ को स्पष्ट और प्रभावशाली बनाने के लिए किया जाता है। 'विरह की अग्नि', 'क्रोध-पीना' आदि मुहावरे भी आलंकारिक प्रयोगों के उदाहरण हैं।

१२. अर्थ की नवीनता तथा प्रकरण-विभिन्नता.—यहाँ शब्दों में अर्थादेश हो जाता है। सिन्धु का अर्थ 'बड़ी नदी' था तथा बाद में सैन्धव की विशिष्टता के कारण उसको 'घोड़ा' और 'नमक' दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त किया जाने लगा। हर प्रसंगानुकूल प्रकरण के आधार पर 'सैन्धवम् आनय' यह रसोइया का वाक्य 'नमक लाने' का संकेत देगा। उस समय नमक वाचक अर्थ

कभी-कभी अश्लीलता छिपाने के लिए अच्छे शब्दों का व्यवहार किया जाता है। मानव-वृत्ति शब्दों की अभिरामता से अधिक आकर्षित हो जाती है। पाखाना जाने को—बाहर जाना, शौच जाना तथा दिशा जाना और निवृत्त होना आदि कहा जाता है। गर्भिणी होने को—'पाँव भारी होना' तथा पेशाब को 'बाथरूम' तथा 'लघुशंका' कहा जाता है।

कटुता या भयंकरता को छिपाने का भी मानव प्रयत्न करता है।

उदाहरणार्थ—चेचक को देवी या माता तथा हैजा में कै-दस्त होने को 'मुंह और पेट चलना' कहा जाता है 'चेचक' में गर्मी अधिक होने को 'शीतला' कहा जाता है। कभी-कभी गंदे या छोटे कार्यों को भी मधुर शब्दों के द्वारा प्रिय बना दिया जाता है। भंगी को जमादार या मेहतर (महत्तर) तथा ाना साफ करने को 'कमाना' कहा जाता है। पंजाबी में नाई को राजा ा जाता है। भंगिन को महतरानी तथा रसोइए को महाराज या ठाकुर ा जाता है। इस प्रकार की भावना से शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो ाता है।

७. व्यंग्य—व्यंग्य के कारण शब्दार्थ में विकार अर्थादेश के अन्तर्गत ाता है और आगे उन शब्दों का नवीन अर्थ ही प्रचलित हो जाता है। मूर्ख ; अर्थ में 'पूरे पण्डित', 'पूरे देवता', 'दिमाग का पूरा', 'अक्ल का खजाना' ादि शब्द चल पड़े हैं। 'पूरे हरिश्चन्द्र के अवतार' असत्यवादी तथा 'लक्ष्मी' ा पति' दीन व्यक्ति के लिए व्यंग्यरूप में प्रयोग किया जाता है।

८. व्यक्तिगत योग्यता—शब्द का अर्थ भावना पर भी अधिकांशतः टिका रहता है। एक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत सामर्थ्य तथा भावना के अनुसार भाषा का अर्थ समझता है। उदाहरणार्थ 'शून्य' शब्द का अर्थ दार्शनिक के लिए कुछ और एक वैज्ञानिक के लिए कुछ और तथा एक गणितज्ञ के लिए कुछ और ही होगा। शब्दों में अर्थ का अनिश्चय होने पर ही एक शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ लिया जाता है। 'कर्तृ ' होने से इसके अर्थ में भी भेद हो धर्म और कर्म हैं।

९. भावावेश—

स्वर—मूल स्वर ९ हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ।

संयुक्त स्वर ४ हैं—ए(अइ), ओ(अउ), ऐ (आइ), औ(आउ)।

व्यंजन—स्पर्श व्यंजन २५ हैं—कंठ्य—क् ख् ग् घ् ङ्।

तालव्य—च् छ् ज् झ् ञ्।

मूर्धन्य—ट् ठ् ड् ढ् ण्।

दन्त्य—त् थ् द् ध् न्।

ओष्ठ्य—प् फ् ब् भ् म्।

अन्तस्थ ६ हैं—य् (इ्), र्, ल् व्, ळ्, ळ्ह्।

घोष ऊष्म ६ हैं—ह् ष् स्।

विसर्ग=: (ह)

(जिह्वामूलीय) =ᐧᐧ(उपध्मानीय)ᐧᐧ

अघोष ऊष्म १ है—ह

एक शुद्ध अनुस्वार—(ं)

आज प्राचीन काल की बहुत सी ध्वनियों के उच्चारण में विभिन्नता आ गई है। उनमें अनेक परिवर्तन तथा विकार हो गये हैं। बहुत सी ध्वनियाँ तो लुप्त हो गई हैं। उदाहरण के लिए ऋक्प्रातिशाख्य में 'ऋ' का उच्चारण र के समान माना गया है, कहीं-कहीं मूर्धन्य स्वर के रूप में भी उल्लेख किया गया है, परन्तु 'ऋ' का उच्चारण वास्तव में कहाँ और कैसे होता था। पंडितों के अनुसार ल' (जैसे क्लृप्त)का उच्चारण अंग्रेजी के Little (लिटिल) के समान है। वैदिक काल में अवशीय ध्वनियाँ आधुनिक ध्वनियों की तरह स्पष्ट रूप में न होकर केवल स्वर ही थीं। 'ळ्ह' ध्वनि 'ळ' का महाप्राण है। जिह्वामूलीय का उच्चारण ख' तथा उपध्मानीय का फ़' के समान था। वैसे क ख पूर्ववर्ती विसर्ग का रूपान्तर जिह्वामूलीय तथा प फ पूर्ववर्ती विसर्ग का रूपान्तर उपध्मानीय था। बाद में अनेक परिवर्तन हो गये। ध्वनि-शास्त्र के अनुसार वैदिक ध्वनियों का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

प्रधान होगा। 'कलम' शब्द माली को अन्य अर्थ तथा विद्यार्थी को 'लेख
का अर्थ देता है। यही अवस्था गोली की है।

१३. शब्दों का संक्षिप्त प्रयोग—अर्थ-परिवर्तन में भी 'प्रयत्न-लाघव' व
करता है। कम शब्दों में अधिक अर्थ की व्यंजना हो जाती है। एक दो श
प्रयोग में छूट जाते हैं; यथा रेलगाड़ी से 'रेल' रेलवे स्टेशन से 'स्टे
तथा साइकिल रिक्शा से 'रिक्शा' हो गया।

१४. पुनरावृत्ति—कभी-कभी शब्दों के दुहरा प्रयोग चलने से अर्थ-
वर्तन हो जाता है। अब 'मलयागिरि पर्वत' द्रविड़ भाषा में मलय पर्वत
कहते हैं, संस्कृत में गिरि का अर्थ भी पर्वत है। अतः इसके द्वित्व प्रयो
मलयागिरि एक पर्वत का नाम समझा गया। इसी प्रकार का प्रयोग विंध्य
और हिमाचल पर्वत के प्रयोग में भी है।

१५. किसी शब्द में विशेषता का प्राधान्य—कम्युनिस्ट लाल झण्ड
विशेषता है 'लाल झण्डा' नाम से पुकारे जाते हैं। लाल-पगड़ी और
टोपी का अर्थ सिपाही तथा कांग्रेसी व्यक्ति के लिए बहुत पहले से चल
है। इस प्रकार अनेक कारणों से अर्थ-विकार हो जाता है।

प्रश्न १७—संस्कृत ध्वनि-समूह का वर्गीकृत परिचय देकर यह बता
हिन्दी-ध्वनि-समूह से उसकी तुलना में क्या मुख्य परिवर्तन हुए हैं?

अथवा

हिन्दी ध्वनियों के विकास पर एक लेख लिखिए।

हिन्दी ध्वनियों का विकास-क्रम वैदिक युग से ही हमें उपलब्ध होता है।
अतः हिन्दी ध्वनि-समूह का मूलाधार प्राचीनतम वैदिक ध्वनि-समूह ही है।
यह वैदिक ध्वनि-समूह ही पाली, प्राकृत एवं अपभ्रंश के ध्वनि-समूह में प्रवा-
हित होता हुआ ईषत् परिवर्तन के साथ आज हिन्दी ध्वनि-समूह के रूप में
विकसित हो गया है।

वैदिक ध्वनियाँ—प्राचीनतम ध्वनियों का रूप हमें वैदिक ध्वनियों में ही
मिलता है। वैदिक ध्वनियों की संख्या ५२ है, इनमें १६ स्वर और ३६ व्यञ्ज
हैं—

स्वर—मूल स्वर ९ है—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ।

संयुक्त स्वर ४ हैं—ए(अइ), ओ(अउ), ऐ (आइ), औ(आउ)।

व्यंजन—स्पर्श व्यंजन २५ हैं—कंठ्य—क् ख् ग् घ् ङ्।

तालव्य—च् छ् ज् झ् ञ्।

मूर्धन्य—ट् ठ् ड् ढ् ण्।

दन्त्य—त् थ् द् ध् न्।

ओष्ठ्—प् फ् ब् भ् म्।

अन्तस्थ ६ हैं—य् (इ्), र्, ल् व्, ळ, ळ्ह्।

ऊष्म ३ हैं—श् ष् स्।

विसर्ग=: (ह)

(जिह्वामूलीय)=𝌆(उपध्मानीय)𝌆

महाप्राण ९ है—ह

एक गूढ अनुस्वार—(ं)

आज प्राचीन काल की बहुत सी ध्वनियों के उच्चारण में विभिन्नता आ गई है। उनमें अनेक परिवर्तन तथा विकार हो गये हैं। बहुत सी ध्वनियों को [illegible] के लिए फारसीस्तान्य में 'ह' का उच्चारण व्यंजन व स्वर के रूप में भी उपयोग किया गया है जैसा [illegible] । स्पर्श का होने लगा। पंडितों के अनुसार 'ल' अंग्रेजी के Little (लिटिल) के समान है। वैदिक 'ळ' ध्वनि को हम स्पर्श ध्वनियों में ठहरा [illegible] 'ड्ल' का महाप्राण है। जिह्वामूलीय का उच्चारण 'ख' के समान था। वैदिक [illegible] पूर्वकालिक क्रिया का रूप-रूप उपध्मानीय हो गये। ध्वनि-शास्त्र के अनुसार वैदिक ध्वनियों पुन: लिखा जा सकता है—

स्पर्श अल्पप्राण						
स्पर्श महाप्राण						
अनुनासिक						
पार्श्विक अल्पप्राण						
„ महाप्राण						
उष्म						
अर्द्ध स्वर						

पाली तथा प्राकृत की ध्वनियाँ —कुछ वैदिक ध्वनियों का लोप पाली में हो गया है, शेष ध्वनियों का प्रयोग यथावत् होता है। ऋ, ॠ, ऌ, ऐ, औ, ष् ए, अघोष हैं, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय इन दस ध्वनियों का प्रयोग पाली में होता है। साथ ही ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' दो नवीन ध्वनियों का आगमन पाली में हो गया है। इसमें केवल सकार का प्रयोग किया जाता है। इसमें विसर्ग का भी प्रयोग नहीं होता है।

पाली तथा प्राकृत भाषायें ध्वनियों की दृष्टि से प्रायः समान हैं। मागधी के अतिरिक्त अन्य प्राकृतों में य् और श् का प्रयोग नहीं होता है। मागधी में 'स्' के स्थान पर भी 'श्' का प्रयोग मिलता है। अशोक के पश्चिमोत्तरीय शिलालेखों प्राकृत में 'ष्' भी मिलता है।

हिन्दी ध्वनि-समूह—हिन्दी-ध्वनि-समूह की अधिकांश ध्वनियाँ परम्परागत रूप से प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं से आई है। कुछ ध्वनियों का विकास

युग में हुआ है। अनेक ध्वनियाँ ऐसी हैं जो विदेशी सभ्यता तथा
सम्पर्क से हिन्दी में प्रविष्ट हो गई हैं; जैसे अरबी, फारसी और
दाओं की अनेक ध्वनियों का समावेश हिन्दी ध्वनि-समूह में हो गया
हिन्दी में तीन प्रकार की ध्वनियाँ हैं—१. प्राचीन ध्वनियाँ, २. विक-
सित तथा ३ विदेशी ध्वनियाँ।

ाचीन ध्वनियाँ—

१—अ आ इ ई उ ऊ ए ओ।

२—स्पर्श

(क् ख् ग् घ् ङ्।

(च् छ् ज् झ् ञ्।

: ट् ठ् ड् ढ् ण्।

१ त् थ् द् ध् न्।

३ प् फ् ब् भ् म्।

१ ल् व्।

१ ह्।

विकसित ध्वनियाँ—

, (ऐ), अ ओ (औ), ड्, ढ् क्, ह्न्, म्ह।

ी. फारसी के तत्सम शब्दों में प्रयुक्त ध्वनियाँ—

') क् ख् ग् ज् फ्।

') अंग्रेजी तत्सम शब्दों में प्रयुक्त ध्वनियाँ—ऑ।

ऋ, ॠ ऌ् वर्ण संस्कृत के तत्सम शब्दों में लिपिमात्र में प्रयुक्त होते हैं
न्दी बोलने वाले इसके मूल रूप का उच्चारण नहीं करते। ऋ का
हिन्दी में 'रि' की भाँति होता है; यथा-ऋण=रिण, कृपा=किरपा
च्चारण हिन्दी में 'श्' के तुल्य होता है। जैसे—पोषक=पोशक, कृष्ण
. आदि। ऌ् का हिन्दी में स्वतन्त्र तथा मूल रूप में उच्चारण नहीं
ाता है वरन् मध्य में प्रयुक्त होने पर भी इसका उच्चारण 'न्' की भाँति
। जैसे—चञ्चल—चन्चल, मञ्जु=मन्जु आदि। मध्यगत 'ण्' का

उच्चारण 'न्' के समान होता है परन्तु
ही होता है; जैसे गणना आदि।

हिन्दी ध्वनियों का वर्गीकरण—उपर्युक्त ध्वनियाँ साहित्यिक हिन्दी में तो व्यवहृत होती हैं परन्तु कुछ अन्य विशेष ध्वनियों का व्यवहार हिन्दीभाषी में और होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण रूप में साहित्यिक तथा विशेष हिन्दी की ध्वनियों की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गीकरण किया जाता है—

(१) मूल स्वर—अ आ आँ (आं) ओ (ओं) ओउ (उ) ऊ (ई) ई (यँ) ए) (एं) (अ)।

मूलस्वरों के अनुनासिक तथा संयुक्त रूप भी पाये जाते हैं।

(२) स्पर्श—क् ख् ग् घ, ट् ठ् ड् ढ्, त् थ् द् ध्, प् फ् ब् भ्।

(३) स्पर्श संघर्षी—च् छ् ज् झ्।

(४) अनुनासिक—ङ् (ञ्) ण् न् ह्न ण्ह म् म्ह।

(५) पार्श्विक—ल् (ल्ल)।

(६) लुण्ठित—र् (र्ह)।

(७) उत्क्षिप्त—ड् ढ्।

(८) संघर्षी—ह ग् ग् ग् म् ज् ह् व्।

(९) अर्द्धस्वर—य् व्।

(कोष्ठक में दी हुई ध्वनियों का प्रयोग केवल हिन्दी की बोलियों में हुआ है।)

प्राचीन वैदिक ध्वनि-समूह से हिन्दी ध्वनि-समूह के विकास पर एक संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हैं। इसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

संस्कृत की अ, आ, इ ई, उ ऊ ध्वनियाँ हिन्दी शब्दों में 'अ' के रूप में मिलती हैं। जैसे—

संस्कृत—अहम्, आसनम्, पाणिः, मणिकः, पुरः।

हिन्दी—महँ, आसन, पानि, मनिका, पर।

इसी प्रकार अन्य स्वरों में भी अनेक परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं।

व्यंजनों में संस्कृत क, ग, त, द, प, ब, ह, ङ्, ञ्, ण्, न्, म् व्यंजनों हिन्दी में 'अ' ध्वनि के रूप में मिलते हैं। उदाहरण—

संस्कृत—मुंह, विलम्ब, कालिमा, काम, चन्द्र मंडल, दर्शन।

हिन्दी—क़ुर, क़िला, मालिक, क़ौम, ख़ाक, शक्कर, क़ंघा।

इसी प्रकार अन्य व्यंजनों का भी विश्लेषण है।

विदेशी ध्वनियाँ—वैदिक ध्वनि-समूह के अतिरिक्त विदेशी ध्वनियाँ भी हिन्दी में आ गई हैं, फारसी की ज़, ई, उ, ऊ, ए, ओ ध्वनियाँ फारसी और हिन्दी में समान हैं। जैसे हि०—इनाम, ईमान, फ़ुरसत, क़ानून, तेज़, ज़ोर।
फा०—इनाम्, ईमान्, फ़ुरसत, क़ानून, तेज़ ज़ोर।

अंग्रेजी ध्वनियाँ—अंग्रेजी के शासन के साथ ही अंग्रेजी के घनिष्ठ सम्पर्क के कारण अंग्रेजी से परिवर्तित हिन्दी ध्वनियों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं। उदाहरणार्थ—अंग्रेजी Earing (इयरिंग) हिन्दी में एरन् हो गया। अ० टाइम (Time) हिन्दी में टैम, टाइम तथा तथा टेम का रूपान्तर हो गया। इस प्रकार अनेक ध्वनियों का विकास हिन्दी में हुआ।

प्रश्न १८—ध्वनि-वर्गीकरण के मुख्य सिद्धांत क्या माने जाते हैं। यह बतलाये हुये ध्वनियों का वर्गीकरण कीजिये।

अथवा

स्वर और व्यञ्जन में क्या मुख्य अन्तर माना जाता है? आभ्यन्तर प्रयत्न (Degree of openness) की दृष्टि से व्यंजनों का आधुनिक वर्गीकरण उदाहरणों सहित कीजिये। (हि० वि० १९६०, आ० वि० १९६२)

भाषा-विज्ञान में ध्वनियों के वर्गीकरण का विचार ध्वनि विज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है। यह वर्गीकरण सामान्यतः उच्चारण-स्थान और उच्चारण-विधि के दृष्टि से श्वास और नाद में किया जाता है। स्वरयंत्र के दृष्टिकोण से कण्ठ-विकट में दो होठों के सदृश स्वरतन्त्रियाँ स्थित रहती हैं, उनके मध्य में जो अवकाश होता है उसे काकल या ग्लॉटिक कहते हैं। स्वरतन्त्रियाँ रबर की भाँति बड़ी लचीली होती हैं। इन तन्त्रियों के माध्यम से ही नाद की उत्पत्ति होती है। जब स्वरतन्त्रियाँ मिलती रहती हैं और हवा धक्का देकर उनके बीच में निकलती है, तब जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसे नाद कहते हैं। स्वरतन्त्रियों के पृथक् या दूर रहने पर हवा के बीच से निकलने से होने वाली ध्वनि को श्वास कहते हैं। काकल को इन दोनों से भिन्न-भिन्न दशाओं में फुसफुसाहट वाली ध्वनि भी उत्पन्न होती है, उसे जनित, ताप तथा उपाणु ध्वनि कहते हैं।

के मनुष्य अपने मुख से अपने-अपने ढंग से बोलते हैं। वह स्वरूप को [illegible]
देती है तब घोष उत्पन्न होता है और [illegible] इस घोष को लिपि [illegible]
डा० श्यामसुन्दर दास ने स्वर को परिभाषा इस प्रकार दी है—"स्वर
घोष (कभी-कभी अघोष भी) ध्वनि है जिसके उच्चारण में हवा बिना
मुख विवर से निकल जाती है" और इसमें कोई संदेह नहीं होना चाहिए
घोष भी व्यंजनों का होता है। स्वर के अतिरिक्त और सभी ध्वनियाँ व्यंजन
होती हैं। व्यंजन वह अघोष या घोष ध्वनि है जिसके उच्चारण में फेफड़ों
नलिका से आती हुई हवा को मुख-विवर में किसी प्रकार से रोका जाता है
कुछ मात्रा में अवरोध उपस्थित होता है। अतः स्वर और व्यंजन में यह अंतर
हो जाता है कि स्वरों के उच्चारण में हवा का घर्षण नहीं होता, पर व्यंजनों
के उच्चारण में थोड़ा-बहुत हवा का घर्षण अवश्य होता है। स्वरों का उच्चा-
रण अकेले भी सरलता से किया जा सकता है किन्तु व्यंजनों का अकेले
रण करने में विशेष सावधानी अपेक्षित है। व्यंजन की अपेक्षा स्वर अधि
तक सुनाई पड़ता है। 'क' की अपेक्षा 'अ' की ध्वनि अधिक दूर तक
पड़ती है। इसी कारण व्यंजनों का उच्चारण अधिकांश रूप में स्वरों के स
से ही होता है। स्वर तो सभी नाद माने जाते हैं पर व्यंजन कुछ नाद औ
स्वास होते हैं। सामान्य नियम के अनुसार एक ही उच्चारण स्थान से
जाने वाले 'नाद' का प्रति वर्ण 'स्वास' अवश्य होता है।

जैसे—कंठ, तालु, मूर्द्धा, ओष्ठ, दन्त, दन्तमूली					
नाद —ग	ज	ड	ब	द	ज्
स्वांस—क	च	ट	प	त	स्

स्वरों का वर्गीकरण—स्वर वह सघोष ध्वनि है जो मुखविवर से बहा
गति से निकल जाती है। स्वरों के वर्गीकरण के प्रमुख आधार निम्नांकित हैं—

१. मुखविवर में जीभ उच्चारण करने में प्रमुख सहायक अंग है। स्वरों
में अन्तर, जिह्वा के विभिन्न भागों के कार्य या प्रयत्न पर निर्भर है। स्वर
वर्णों में विशेष गुण जिह्वा और होठों की अवस्थाओं से उत्पन्न होते हैं।

स्वरों के स्पष्ट उच्चारण के कार्य में जीभ की प्रधान तीन अवस्थाएँ होती हैं—अग्र, मध्य और पश्च। इस अवस्था-भेद से स्वरों के भी यही तीन भेद हो जाते हैं।

अगर अ को जीभ की सबसे नीची अवस्था मान लिया जाय तो जीभ 'इ' के उच्चारण में आगे की ओर ऊँचे उठती है और 'ऊ' के उच्चारण में पीछे की ओर ऊँचे उठती है। स्थूल रूप से जीभ की इस अवस्था-भेद से हिन्दी स्वरों इ, ई, ए अग्र स्वर हैं, उ, ऊ, ओ, आ पश्च स्वर तथा अ मध्य है।

(२) अगर जीभ का विशिष्ट भाग घोष के समय बहुत ऊँचा उठा तो मुख-विवर अत्यन्त संकरा अर्थात् संवृत होगा और यह उच्चारण में जिह्वा-भाग नीचे की ओर रहा तो मुख-विवर बहुत खुला या 'विवृत' होगा। इन दोनों के मध्य में प्रमुख रूप से दो स्थितियाँ मानी जाती हैं—ईषत् संवृत और ईषत् विवृत। इस प्रकार स्वर की चार श्रेणियाँ हुईं। हिन्दी में 'ऊ' संवृत, ओ ईषत् (अर्ध) संवृत, 'आ' विवृत तथा 'आ' ईषत् (अर्द्ध) विवृत स्वर हैं।

(३) ओठों की स्थिति पर स्वरों का स्वरूप निर्भर करता है। ओठों की अवस्थाएँ प्रमुखतः दो प्रकार की हैं—(१) वृत्तमुखी या वृत्ताकार जैसे उ और ऊ आदि स्वरों के उच्चारण में ओठों की आकृति गोल सी हो जाती है। २. अवृत्तमुखी या अवृत्ताकार जैसे आ ए आदि में। कुछ स्वरों में ओष्ठ विस्तृत (ई) पूर्ण विस्तृत (ए) उदासीन (अ) स्वल्प वृत्ताकार (ओ) पूर्ण वृत्ताकार (ऊ) आदि भी होते हैं।

(४) स्वरों के स्वरूप मात्रा के अनुसार चार वर्ग प्रधान रूप से हो सकते हैं—ह्रस्वार्द्ध (उदासीन स्वर अँ), ह्रस्व (अ), दीर्घ (आ) और प्लुत (ओ३म्) ये चार हैं।

(५) कोमल तालु और कौवे (अलि जिह्वा) की स्थिति का भी स्वरों के स्वरूप पर प्रभाव पड़ता है। साधारण स्वरों के उच्चारण में स्पष्ट अवश्य कोमल तालु उठकर नासिका की भित्ति से जा लगता है। इसीलिए नासिका-विवर बन्द होने से ध्वनि केवल मुख से निकलती है। जब कोमल तालु थोड़ा नीचे आ जाता है तब हवा मुख और नाक दोनों से निकलती है। ऐसी स्थिति में उच्चरित स्वर नासिक्य या अनुनासिक स्वर (अँ, आँ, ईं) कहे जाते हैं। इसके दो भेद हैं—(क) पूर्ण अनुनासिक, जैसे हाँ में आँ, (ख) अपूर्ण अनुनासिक, जैसे

४. स्पृष्ट (Contact)—कण्ठ्य वर्णों के [illegible] उच्चारण में [illegible] स्पृष्ट वर्ण कहते हैं। जैसे—क, ख, ग, घ।

५. विवृत (Open)—कण्ठ्य वर्णों को छोड़ कर शेष वर्णों के उच्चारण में मुख [illegible] विवृत कहलाता है। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, ह, य, र, ल, व, श, ष, स, ह, क्ष, त्र, ज्ञ आदि विवृत वर्ण हैं।

६. ईषत् (Semi-open)—ऐसे वर्णों में मुख ईषत् विवृत होता है। य, र, ल, व ईषत् वर्ण हैं।

७. ईषत्स्पृष्ट (Semi-contact)—इसमें उच्चारण करते समय जिह्वा का [illegible] स्पर्श करता है। ड़, ढ़ ईषत्स्पृष्ट वर्ण हैं।

८. संवृत (Closed)—इन वर्णों का उच्चारण होता बहुत थोड़ा है। जैसे ह्रस्व अ।

प्रयत्न के आधार पर वर्णों का वर्गीकरण निम्न रूप से किया जा सकता है।

१. स्पर्श (Mute)—जिनमें मुख के उच्चारण का प्रयत्न पूर्ण स्पर्श होता है। फेफड़े से मुख में हवा बल पाती है और फिर वह एक झटके से बाहर निकाल दी जाती है। इसमें स्पर्श की ध्वनि होती है। जैसे क, ग आदि।

२. ऊष्म या सघर्षी (Sibilant)—ध्वनि के उच्चारण करते समय वायु-मार्ग एक स्थान पर इतना संकीर्ण हो जाता है कि हवा के बाहर निकलने में घर्षण की सी सीत्कार सदृश ऊष्म (Sibilant) ध्वनि होती है। इसमें जिह्वा, दन्तमूल अथवा तालु का भाग घुला रहता है। श, ष, स, ह, ज़ आदि ऊष्म वर्ण (Spirant) होते हैं।

३. स्पर्श-घर्षी (*Affricate*)—हवा के थोड़े से सघर्ष के साथ उच्चारण में जो स्पर्श होता है उसे स्पर्श-घर्षी वर्ण कहते हैं, यथा च, छ, ज, झ।

४. नासिक्य या अनुनासिक (Nasal)—इसमें वर्ण के उच्चारण में कोमल तालु इतना झुक जाता है कि हवा नासिका-मार्ग से निकल जाती है; जैसे न, म आदि।

५. पार्श्विक (Lateral)—इन ध्वनियों में हवा मुख के मध्य में रुक जाने से जीभ के अगल-बगल या पार्श्व से बाहर निकलती है, यथा 'ल'।

६. लुण्ठित (Rolled)—जीभ की नोक को कुछ वेलन की तरह लपेट या लुण्ठन करके वर्त्स्य या तालु का स्पर्श करके यह ध्वनि उत्पन्न की जाती है। इसे लोड़ित भी कहते हैं, जैसे 'र'।

७. उत्क्षिप्त (Flapped)—जीभ को लपेट कर तालु के किसी भाग पर झटके से चोट करने पर तथा उसके हटने पर यह ध्वनि उत्पन्न होती है, जैसे ड़, ढ़।

८. अर्द्धस्वर (Semi-vowel)—इनके उच्चारण में वायु का प्रवाह बहुत धीमा होता है। ये एक प्रकार से स्वर और व्यंजन के मध्य की ध्वनियाँ हैं। जैसे य (इ), व (उ)।

ध्वनि-वर्गीकरण के सिद्धान्त

स्वर-तन्त्रीय प्रयत्न—इसके अनुसार ध्वनियों के दो भेद हो सकते हैं, सघोष और अघोष। हिन्दी ध्वनियों में सभी स्वर, क-वर्ग आदि पाँचों वर्गों के अन्तिम तीन ध्वनियाँ (ग घ ङ, ज झ ञ आदि) य र ल व ह ज़ ड़ ढ़ आदि सघोष हैं। शेष सभी अघोष हैं।

प्राणत्व के आधार पर—श्वास-बल के आधिक्य या कम होने पर उच्चरित ध्वनियाँ दो प्रकार की हैं—अल्प-प्राण तथा महाप्राण। जिनमें 'ह' की ध्वनि मिलती है ऐसे व्यंजन महाप्राण होते हैं, जैसे—ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ़, भ, ख़, ग़, ज़, ड़, ढ़ आदि। शेष अल्पप्राण हैं।

आभ्यन्तर प्रयत्न—(Degree of openness)—इसके अनुसार ध्वनियों के स्वर और व्यंजन दो भेद हो जाते हैं। इसके पश्चात् स्वर के अग्र, पश्च, मध्य तथा संवृत, अर्द्ध-संवृत, अर्द्ध-विवृत और विवृत भेद हो जाते हैं। दूसरी ओर व्यंजन के स्पर्श, संघर्ष, अनुनासिक, पार्श्विक, लुण्ठित उत्क्षिप्त और स्पर्श संघर्षी भेद होते हैं। इनका वर्णन ऊपर कर दिया गया है।

उच्चारण-स्थान—इस दृष्टि से स्वरयन्त्रमुखी, जिह्वामूलीय, कण्ठ्य, मूर्धन्य, तालव्य, वर्त्स्य, दन्तोष्ठ्य और द्व्योष्ठ्य आदि भेद [illegible] जाते हैं।

अनुनासिकता—इस प्रकार वर्णों के तीन भेद हैं—(१) मौखिक—[illegible]

आदि। (२) अनुनासिक (मौखिक नासिक्य) जैसे कँ, टँ। (३) नासिक्य—जैसे—म्, न्, ण्, ञ्, ङ् आदि।

प्रश्न १६—ध्वनि-परिवर्तन के रूप (दशाएँ) और कारणों को सोदाहरण लिखना कीजिए। (वि० वि० १९६२)

अथवा

'ध्वनि प्रयत्न-लाघव की दिशा में परिवर्तित होती है।' इस कथन को स्पष्ट करो। (वि० वि० १९५९)

परिवर्तनशीलता ही प्रकृति का नियम है। मानव-जीवन शाश्वतरूप इसी नियम से प्रेरित होकर चिर-नवीनता धारण करता है। इसी प्रकार किसी जीवित भाषा में नवीनता तथा रोचकता का समावेश इस परिवर्तन के फल-स्वरूप होता है। इस परिवर्तनशीलता को ही 'विकास' या 'विकार' कहा गया है। भाषागत यह विकास के कारण भाषा के प्रमुख अंग ध्वनि, अर्थ, पद तथा वाक्य में भी देखा जा सकता है। ध्वनियों का समाहार ही भाषा या पद है। अधिकतर ध्वनि-विकार से ही भाषा में विकास की गति तीव्र हो जाती है। ध्वनि-परिवर्तन के अनेक स्वरूप या दिशाएँ हैं। ध्वनि-विकार के प्रमुखतः दो भेद हैं—स्वयंभू (unconditional) और परोद्भूत (conditional)। स्वयंभू-परिवर्तन अकारण तथा बिना किसी परिस्थिति या अवस्था के स्वयमेव भाषा के प्रवाह में नदी की गति के समान घटित हो जाते हैं। इस स्वयंभू परिवर्तन के कारण अज्ञात और अपरिचित होते हैं। अतः इनको अकारण संज्ञा दी गई है। परोद्भूत परिवर्तनों में कारण, परिस्थितियों तथा दशाओं का योग रहता है। स्वयंभू विकार न्यूनतम होते हैं। अतः ये ध्वनि-परिवर्तन की अनेक दिशाएँ हैं।

परिवर्तन का स्वरूप या उनकी दिशाएँ

१. लोप (Elision)—कभी-कभी ध्वनियों में लोप बोलने की सुविधा, शीघ्रता या स्वराघात के प्रभाव से हो जाता है। यह लोप तीन प्रकार से होता है—१. स्वर-लोप, २. व्यंजन-लोप तथा ३. अक्षर-लोप। इसके भी अवान्तर भेद हैं—आदिलोप, मध्यलोप और अन्तलोप।

(क) आदि स्वर लोप (Aphesis)—इसमें शब्द के आदि स्वर का लोप हो जाता है। उदाहरणार्थ—अभ्यन्तर=भीतर; अनाज=नाज; अहाता=

होना; अपि=भी, अकथाना=कथाना।

(ख) मध्य स्वर लोप (Syncope)—इसका प्रयोग अधिकतर उच्चारण में होता है, यथा तरबूज=तर्बूज, इमली=इम्ली, लगभग=लग्भग, बलदेव=बल्देव, do not=don't।

(ग) अन्त्य स्वर लोप—धीरे-धीरे हिन्दी के शब्द के अन्त्य स्वर का लोप हो जाता है और वे व्यंजनान्त होते जा रहे हैं; यथा—राम=राम्, सिंह=सिंह, ग्राम=ग्राम्, अन्य रूप—निद्रा (स०)=नींद, जाति—जात, पार्श्व=पास आदि।

(घ) आदि व्यंजन लोप—ध्वनियों के ये रूप अधिकांशतः हिन्दी तथा प्राकृतों में पाये जाते हैं जिनमें संस्कृत शब्द के आदि व्यंजन का लोप हो गया है। उदाहरणार्थ—स्कंध=कंधा, स्थान=थान, स्थाली=थाली, श्मशान=मशान, knife=nife।

(ङ) मध्य व्यंजन लोप—प्राकृत तथा हिन्दी ग्रामीण बोलियों में यह लोप अधिकांशतः दृष्टिगत होता है; यथा बचन=बअण, प्रिय=पिअ, गर्भिणी=गाभिन, कार्तिक=काअिक, उपवास=उपास, डाकिन=डाइन, परद्वार=परवार, कोकिल=कोइल।

(च) अन्त्य व्यंजन लोप—इसके उदाहरण कम मिलते हैं। जैसे—ग्राम=गाम, उष्ट्र=ऊँट, सत्य=सत्।

(छ) आदि अक्षर लोप—यहाँ अक्षर का अर्थ स्वर और व्यंजन का है। जब दो समान अक्षरों के एक साथ आने पर प्रायः एक का लोप हो है। जैसे त्रिभूल का शूल, university=varsity आदि।

(ज) मध्य अक्षर लोप—भाण्डागार=भंडार, गेहूँ चना=गोचना, द=दस्खत।

(झ) अन्त्य अक्षर लोप (Apocope)—मौक्तिक=मोती, सपादि सखा, माता=मा, निम्बुक=नीबू तथा भातृजाया=भावज।

(ञ) समाक्षर लोप (Haplology)—अमेरिकन भाषा-विज्ञानी ब्लू फील्ड के मतानुसार इसका अर्थ है 'एक को जानना'। इसका अर्थ है कि दि शब्द में एक ही ध्वनि, अक्षर या अक्षर-समूह के दो बार आने पर एक का लो

हो जाता है और केवल एक अक्षर=मुख का उच्चारण किया जाता है। उदाहरणार्थ—सरीसार=सरीसर, नाकटा=नकटा, सरोसिवर=सरिवर, सहोहि=सोहि, सेवबू=सेबू, अंग्रेजी में भी Cinema-matiree=Cinematree

२ आगम—आगम लोप का विलोम है। इसमें लोप न होकर उच्चारण की सुविधा के लिए नई ध्वनि का आगमन हो जाता है। स्वर, व्यंजन और अक्षर का आगम भी लोप के सदृश आदि मध्य और अन्त में होता है। यह प्रायः सभी भाषाओं में किसी न किसी प्रकार से होता है।

आदि स्वरागम (Prothesis)—शब्द के आरम्भ में प्रायः ह्रस्व स्वर आ जाता है। फारसी तथा अंग्रेजी के ऊष्म ध्वनियों के आदि में रहने पर यह प्रायः होता है। हिन्दी और अंग्रेजी में भी यह प्रवृत्ति दिखाई देती है। उदाहरणार्थ—स्कूल=इस्कूल, स्नान=अस्नान स्नान=अस्नान, वारना=उवारना।

इसे पुरोहिति भी कहते हैं।

मध्य स्वरागम (Anaptyxis)—उच्चारण की असुविधा को दूर करने के लिए असानवन स्वरों का आगमन शब्द के बीच में कर लिया जाता है। पंजाबी लोगों के उच्चारण में यह अधिक देखा जा सकता है, जैसे सकूल, सटेशन, गनान आदि। संस्कृत में भी गृधी=गृधिनी, स्वर्ग सुवर्ण आदि शब्द मिलते हैं। ग्रामीण बोलियों में मध्य स्वरागम का बाहुल्य है। उदाहरणार्थ—गर्म=गरम, मर्म=मरम, धर्म=धरम, पूर्व=पूरब, प्रजा=परजा, जन्म=जनम, भक्त=भगत, मुनि=मुनि, दुख=दुखु, भ्रम=भरम आदि। इसका दूसरा नाम 'स्वर-भक्ति' भी है।

अन्त स्वरागम—इसका प्रयोग कम ही होता है। जैसे दया=दयाई, स्वप्न=सपना, सोक=सोंपु। इनमें स्वरागम अन्त में हुआ है।

आदि व्यंजनागम—इन ध्वनियों की मात्रा अल्प है। नये व्यंजनों के आदि में आने से कोई सुविधा या प्रयत्न-लाघव नहीं होता है, यही इनकी न्यूनता का कारण है। जैसे—उल्लास=हुलास, अस्थि=हड्डी, ओष्ठ=होंठ।

मध्य व्यंजनागम—इसके उदाहरण अनेक हैं। यथा—बानर=बन्दर, पण=प्रण, समुद्र=समुन्दर; साप=साप, लाश=लहाश, सुख=सुक्ख आदि।

अन्त व्यंजनागम—भौं=भौंह, तिलस्म (अरबी)=talisman (अंग्रेजी)

रग → रगत्, परवा = परवाह; कल = कल्ह ।

आदि-अक्षरागम—गुंजा = घुंघची (भोजपुरी) ।

मध्य-अक्षरागम—सल = सरल, आलस = आलकस ।

अन्त्य-अक्षरागम—मांस = मांसड़ी, जीभ = जीभड़िया, बधू = ब
मांक = मांकड़ा आदि ।

३. वर्ण-विपर्यय (Metathesis)—इसे 'वर्ण-व्यत्यय' भी कहते
कभी-कभी स्वर, व्यंजन तथा अक्षर किसी शब्द में परस्पर ध्वनि-विनिम
स्थान परिवर्तन कर लेते हैं, उसे वर्ण-विपर्यय कहते हैं। जैसे 'अमरू
'अरमूद'। जब पास-पास की ध्वनियों में विपर्यय होता है तो पार्श्व
कहलाता है। अन्यथा दूरवर्ती।

पार्श्ववर्ती स्वर-विपर्ययय—इण्डो भाषा में lie = lei (बनाना)।

दूरवर्ती स्वर-विपर्यय—कछु = कुछ; पागल = पगला; विन्दु = बूँद, आ

पार्श्ववर्ती व्यंजन-विपर्य = ब्राह्मण = बाम्हन; सिगनल = सिगल; चिह्न
चिन्ह ।

दूरवर्ती व्यंजन-विपर्यय—महाराष्ट्र = मरहठा; वाराणसी =
= तगमा ।

पार्श्ववर्ती अक्षर-विपर्यय = मतलब—मतयल, बफर (इ
(फारसी)।

दूरवर्ती अक्षर-विपर्यय—लखनऊ = नखलऊ, नारिकेल = ना
= काचू ।

शब्दांश-विपर्यय—दो शब्दों के आरम्भ के अंशों में विपर्यय
जैसे चूल्हा-चौका = चौल्हा-चूका ।

४. समीकरण (Assimilation)—इसे सारूप्य, सावर्ण्य
इसमें स्वर या व्यंजन एक दूसरे को प्रभावित कर सजातीय वर्ण
इसके दो भेद होते हैं—पुरोगामी और पश्चगामी। प्रत्येक पार्श्व
से दो प्रकार का होता है।

व्यंजनों में

दूरवर्ती पुरोगामी समीकरण में दो दूरगामी ध्वनियाँ परस्पर प्र

हैं; यथा—'भ्रष्ट' का ग्रामीण बोलियों में 'भरभट' तथा 'खटपट' का 'खटखट' हो गया है। पार्श्ववर्ती पुरोगामी समीकरण में ध्वनियाँ पास-पास होती हुई प्रभाव डालती हैं। प्राकृत में इस प्रकार की ध्वनियों की अधिकता है। जैसे—चक्र=चक्क, लग्न=लग्ग; यस्य=जस्स तथा 'पत्र से पत्ता'। इनमें पहली ध्वनि दूसरी ध्वनियों को प्रभावित करती है। दूरवर्ती पश्चगामी समीकरण में परध्वनि पूर्व-ध्वनि को प्रभावित कर सजातीय या सवर्गीय बना देती है। तथा—खरकट=करकट, नील=लील। पार्श्ववर्ती पश्चगामी समीकरण में पास-पास की ध्वनियों में परिवर्तन होता है—जैसे धर्म=धम्म; दुग्ध=दुद्ध (दुद्ध), सर्प=सप्प।

व्यंजन के अतिरिक्त स्वरों में भी इस प्रकार का परिवर्तन होता है। पार्श्व-पुरोगामी उदाहरण सूरज=सूरज, खुरपी=खुरपी तथा दूर-पुरोगामी के आइए=आइइ आदि हैं। उसी प्रकार दूर पश्चगामी में=अँगुलि=उँगली; इक्षु=उक्खु तथा पार्श्व-पश्चगामी समीकरण में—भोजपुरी में शीघ्रता में 'कब अइलह' का 'कब इइलह' हो जाता है।

पारस्परिक व्यंजन समीकरण (Mutual Assimilation)—में दो पार्श्ववर्ती व्यंजनों के पारस्परिक प्रभाव डालने के कारण दोनों ही परिवर्तित हो जाते हैं और एक तीसरा व्यंजन वहाँ आ जाता है। उदाहरणार्थ—सत्य=सच, विद्युत=बिजली, बुद्धि=बूझ वाद्य=बाजा, कर्तरिका=कटारी आदि।

५. विषमीकरण (Dissimilation)—यह समीकरण का विपरीत रूप है। इसके व्यंजन तथा स्वर दो भेद हैं। व्यंजन के पुरोगामी विषमीकरण में प्रथम व्यंजन ज्यों का त्यों रहता है और दूसरा परिवर्तित हो जाता है, यथा—काक=काग, लाङ्गूली=लगूर; कंकण=कगन, Marmor (लैटिन)=Marble इसी के पश्चगामी रूप में प्रथम व्यंजन में परिवर्तन होता है। दरिद्र=दलिद्दर। स्वरों के पुरोगामी विषमीकरण में—तिरिक=टिकली; पुरुष=पुरिस मिलता है तथा पश्चगामी विषमीकरण में—नुपुर=नेउर, मुकुट=मउर, मुकुल=बउर।

६. सधी ध्वनि एकीभाव—संधित विकारों या ध्वनि-विकास में इसका महत्व है। कुछ व्यंजन (प, व, य, म आदि उच्चारण में स्वर के समीप होने के कारण से स्वर में बदल जाते हैं और अपने पूर्ववर्ती व्यंजन में मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ—चामर=चँवर=चँउर=चौर, नयन=नइन=नैन, शत=

प प्राय: ख, थ, ध, फ हो गये हैं। पर महाप्राणीकरण (Aspiration) के अपवाद भी प्राप्त होते हैं। कभी-कभी शब्दों में महाप्राण का अल्पप्राण हो जाना ही अल्पप्राणीकरण (Deaspiration) कहलाता है। ग्रासमेन के नियम में यह परिवर्तन बहुधा देखा जाता है; जैसे—घघामि=दधामि, भोधामि=बोधामि, सिन्धु=हिन्दु आदि।

१२. भ्रामक उत्पत्ति—अधिकांशत: भ्रामक उत्पत्ति का वहाँ अधिक प्रयोग होता है जहाँ ग्रामीण व्यक्ति विदेशी ध्वनियों का उच्चारण मनमाना करने लगते हैं। इस स्वरूप में भी प्रयत्न लाघव शक्ति कार्य करती है। भ्रमवश इन शब्दों का रूप भी अधिकांशत: बदल जाता है। उदाहरणार्थ—लाइब्रेरी का लाइबरेली आदि है।

१३. अपश्रुति (Ablaut)—इसमें मात्रिक तथा गुणीय परिवर्तन से, स्वरों या अर्धस्वरों में विकार आ जाता है। मात्रिक परिवर्तन का कारण बलात्मक स्वराघात था तथा गुणीय परिवर्तन का संगीतात्मक स्वराघात था। अँग्रेजी, रूसी, हिन्दी आदि में गुणीय अपश्रुति है। इसमें स्वरों की दीर्घता-ह्रस्वता दिखाई पड़ती है पर अर्थ में परिवर्तन कम होता है।

हिन्दी—मिल, मिलना, मिलन, मेल।

संस्कृत—सदत (सीट) सादयति सेदु (वे बैठे)

अँग्रेजी—Mouse, Mice आदि।

ध्वनि-परिवर्तन के कारण—ध्वनियों में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन का आभास हमें कुछ समय के बाद मिलता है। यह परिवर्तन प्रमुख रूप से प्रयत्न-लाघव या मुख-सुख की प्रवृत्ति तथा अनुकरण की अपूर्णता के कारण होता है। सूक्ष्म रूप में ध्वनियों में हुए विकास को दो दृष्टिकोण से देख सकते हैं—एक बाह्य तथा दूसरा आन्तरिक। बाह्य कारणों के अन्तर्गत परिस्थितियाँ तथा भौगोलिक वातावरण आदि आते हैं तो आन्तरिक कारणों में अर्थ-गाम्भीर्य स्वराघात आदि लिए जाते हैं। इन कारणों की सीमा निर्धारित करना एक दुष्कर कार्य है। इन दोनों प्रकार की निर्दिष्टता के आधार पर भविष्य में ध्वनि-विकास की समीक्षा नहीं की जा सकती है। सुविधा या प्रयत्न-लाघव किस दिशा में कार्य करेगा यह कहना कठिन है। फिर भी उपरोक्त

३. बोलने में शीघ्रता—शीघ्र बोलने की प्रवृत्ति से भी ध्वनि-विकार हो जाता है। शीघ्रता के कारण शब्दों की ध्वनियों में प्रायः लोप हो जाता है और ध्वनि क्षय हो जाती है। कभी-कभी कुछ अक्षरों का लोप होने पर अन्य ध्वनि का आगम हो जाता है। उदाहरणार्थ—'मास्टर साहब' को 'मास्साब', 'माता जी' को 'माजी' तथा 'पण्डित जी' को 'पण्डी जी' उच्चारण किया जाता है। 'डन्डोंने' का 'डन्मे' 'डिम्मे', 'डिम्मे,' 'माड्डाला' भी इसी बोलने की द्रुतगति का परिणाम है।

४. बनकर बोलना—इस भावना से भी ध्वनियों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। चाहे वह अन्यायी हो। बच्चा का बनकर बोलना चतुर तथा फुर्तीला दिखाने का प्रयास ध्वनि में न्यूनाधिक परिवर्तन अवश्य कर देता है; यथा कहना का केना, बहनों का बेनो, 'बेटो' का 'बेटो' आदि।

५. भावुकता तथा भावावेश—भावातिरेक के कारण भी ध्वनि परिवर्तित हो जाती है। स्नेहातिरेक या प्यार के वशीभूत होकर बेटी को बिटिया, मुन्ना को मुन्नू, दुलारी को दुल्लो कह दिया जाता है। क्रोध के आवेश में असावधान शब्द तथा अशिष्ट भाषा का प्रयोग कर दिया जाता है। गालों की तो दुर्दशा हो ही जाती है। क्रोध में बच्चे को 'बच्चू' कह देते हैं।

६. विभाषा का प्रभाव—एक राष्ट्र, जाति या सभ्य दूसरे के सम्पर्क में आता है तो विचार-विनिमय के साथ ध्वनि-विनिमय भी हो जाता है। एक भाषा की विशेष ध्वनियाँ अन्य ध्वनि को प्रभावित करती हैं। लौकिक आर्य-भाषाओं पर द्रविड़ वर्ग का प्रभाव पड़ा है जबकि वैदिक ऋचाओं में इसका प्रयोग न्यूनतम है।

मुख-सुख या प्रयत्न लाघव—उच्चारण की सुविधा ही ध्वनि-परिवर्तन का प्रमुख कारण है। मुख को सुख देने के प्रयास में कठिन ध्वनियों को उच्चारण की दृष्टि से सरल बना लिया जाता है। इसीलिए उत्तर प्रदेश वाले स्कूल तथा स्टेशन को इस्कूल तथा इस्टेशन तथा पंजाबी सकूल तथा सटेशन कहते हैं। प्रायः ध्वनि-विकार के सभी कारण तथा दशाओं में प्रयत्न-लाघव का सर्वाधिक महत्व है। ध्वनि की अनुरूपता तथा विभिन्नता, स्थान-परिवर्तन तथा ध्वनियों के लघूकरण में यह मुख-सुख तथा उच्चारण की सुविधा ही प्रधान है। अतः

अध्ययन से निम्न कारणों पर प्रकाश पड़ा है और आगे
सकता है।

१. शारीरिक या वाक्‌यन्त्र की विभिन्नता—शारीरिक या वाक्‌य
विभिन्नता से ध्वनियों में भेद पैदा हो जाता है। शारीरिक अवयव तथा क
की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर है। साथ ही मस्तिष्क की गुरुता या ल
के आधार पर मानव की चिन्तन तथा विवेक शक्ति पृथक्-पृथक् होती है। ए
विद्वान के विचार करने की शक्ति अशिक्षित या मूर्ख व्यक्ति से भिन्न होती है
इतना ही नहीं व्यक्ति के वाक्‌यन्त्र की रचना तथा सामर्थ्य में भी विभिन्नत
है। वाक्‌यन्त्र गर्दन, कान और स्थान से नियन्त्रित रहता है। यही कारण
है कि संस्कृत के 'ण' का उच्चारण बंगाली में 'न' और ईरानी में 'ड़' हो
गया। यह रहा बोलने का क्रम। श्रवणेन्द्रिय में एक उच्चरित ध्वनि के
श्रवणकार्य में भी अन्तर आ जाता है। जैसा हम एक विशिष्ट ध्वनि को सुनते
है वैसा उच्चारण नहीं कर पाते। अतः ये अन्तर कालान्तर या सदियों के
पश्चात् अध्ययन करने पर प्रत्यक्ष अनुभव किये जा सकते हैं। सहज और
भाविक रूप से ध्वनियों का उच्चारण ध्वनियों में विकार पैदा कर देता।
फलतः भाषा या पद में आगम, लोप आदि हो जाते हैं।

२. अनुकरण की अपूर्णता तथा अज्ञानता—वाक्‌यन्त्र और श्रवणेन्द्रिय के
बीच की कड़ी अनुकरण की प्रवृत्ति है। किसी व्यक्ति के उच्चारण का अन
व्यक्ति पूर्ण अनुकरण नहीं कर पाता, या तो वह आगे बढ़ जाता है या पीछे रह
जाता है। इसी कारण ध्वनियों में अन्तर आ जाता है। अनुकरण की अपूर्णता
प्रायः बच्चों में अधिक स्पष्ट होती है। वह रोटी को 'लोटी' तथा चोर को
'चिज्जी' कहता है। बड़ा होने पर यह भेद सूक्ष्म रूप में बना रहता है और
इसका स्पष्ट रूप विदेशी ध्वनियों के अनुकरण में मिलता है। ब्राह्मण का
'ब्राह्मन' तथा कनेक्शन का 'कन्नक्शन' इसी कारण होता है। इस अनुकरण की
अपूर्णता में अज्ञानता का भी पर्याप्त योग रहता है। किसी ध्वनि के विषय
निश्चित या शुद्ध-ज्ञान के उच्चारण का ठीक अनुकरण नहीं हो पाता और फल-
स्वरूप ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। अपरिचित तथा विदेशी शब्दों में यह
विकार विशेष रूप से होता है। लोक-भाषा में 'ओवरसियर' का ओसेयर
उच्चर का 'ओवर' या कण्ठोटर हो गया है।

मिश्र के स्थान पर सुन्दा, मिश्रा लिखा जाने लगा है। अतः इससे भी ध्वनि में विकार हो जाता है।

१३. भौगोलिक प्रभाव—यह भी ध्वनि विकार का एक कारण है। गर्म जलवायु वाले देशों में विवृत तथा ठण्डी जलवायु वाले देशों में संवृत ध्वनियों का अधिक विकास होता। चारों ओर पर्वतों से घिरे प्रदेश की ध्वनियाँ स्पष्ट तथा बाहरी व्याघात से हीन बनी रहती हैं। इसी प्रकार पश्चिमी देश निवासी हिन्दी भाषा के दन्त्य वर्णों का उच्चारण नहीं कर सकते हैं। इसमें भौगोलिक परिस्थितियाँ काम करती हैं।

१४. सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव—सामाजिक गति में सांस्कृतिक उन्नति होती तथा ध्वनि शुद्ध तथा परिमार्जित रहेगी। युद्ध या विप्लव में बोलने की गति तीव्र हो जाती है और भाषण-क्रिया में कुछ ध्वनियों में बलात्मक स्वराघात बढ़ जाता है तथा परिणामतः कुछ ध्वनियों का लोप हो जाता है और भाषा का विकास या ह्रास तीव्र गति से होने लगता है। समाज में दुख पूर्ण वातावरण से धीरे बोलने की प्रवृत्ति हो जाती है और संवृत ध्वनियों की ओर झुकाव हो जाता है। इस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है।

प्रश्न २०—ध्वनि-नियम क्या है? ग्रिम (Grim's Law) कृत ध्वनि-नियम की सम्यक् समीक्षा कीजिए। क्या ध्वनि-नियम भी उसी प्रकार अपवाद्य हैं जैसे अन्य वैज्ञानिक नियम?

ध्वनियों में परिवर्तन नैसर्गिक रूप से होता रहता है। भाषा की कुछ ध्वनियों में ये विकार अंशतः या पूर्णतः विशिष्ट नियमों के आधीन होते हैं। प्रायः परिस्थितियों की एकरूपता या निश्चित गति के परीक्षण पर ही ये नियम अवलम्बित हैं। जैसे संस्कृत 'य' प्राकृत में 'अ' हो गया; यह एक नियम है। इन नियमों के अपवाद भी होते हैं; यथा मागधी प्राकृत में संस्कृत 'य', 'ज' ध्वनि में परिवर्तित होकर 'य' रहा।

ध्वनि नियम क्या है?—यह प्रश्न सदैव से भाषा-विज्ञानियों के मस्तिष्क में घूमता रहा है। सर्वप्रथम नियम के विषय में जानना आवश्यक है। विशेष परिस्थितियों में [illegible] से घटित होने को नियम कहते हैं।

प्रयत्न-लाघव का क्षेत्र एकांगी न होकर सर्वांगी तथा विस्तृत है।

८. सादृश्य (Analogy)—ध्वनियों को स्मृतिग्राह्य तथा अपवाद बनाने का श्रेय सादृश्य को है। सुगमता के उद्देश्य ने अन्य ध्वनि को सना तथा सादृश्य पर अन्य ध्वनि को ढाल लिया जाता है। यथा द्वादश के सा पर एकदश भी एकादश तथा तैंतीस के सादृश्य पर सैंतीस में अनुनासिकता गई है। स्वर्ग की समानता पर नरक 'नर्क' हो गया है।

९. बलाघातक और संगीतात्मकता—ये दोनों भी ध्वनि-विकार के कार हैं। शब्द की किसी ध्वनि पर अधिक बल देने से अन्य समीपवर्ती ध्वनियाँ कम और होकर लुप्त हो जाती हैं। यथा—मान्धन्तर के मध्य में बल का आघात होने से 'मा' का लोप होकर 'भोतर' रह गया। इस प्रकार 'उपाध्याय से 'झा' रह गया। आरोह-अवरोह के स्वर-क्रम से संगीत का स्वराघात संवृत तथा विवृत रूप धारण कर लेता है। इसी से 'इ' का 'ए' तथा 'उ' का 'ओ' हो जाता है, जैसे 'कुष्ठ' का 'कोढ़' 'बिल्व' का 'बेल' में संगीतात्मक स्वराघात की झलक है।

१०. काव्य में मात्रा या तुक—कवि लोग अन्त्यानुप्रास या तुक तथा मात्रा के दृष्टिकोण से मनमाना परिवर्तन ध्वनियों में कर देते हैं। भक्तिकाल तथा रीतिकाल की कविता में यह प्रवृत्ति दर्शनीय है। बिकराल का बिकरार, कमल= कमलु, हथियार=हथ्यार आदि उदाहरण मिलते हैं।

११. स्वाभाविक विकास या परिवर्तन—इसको स्वयभू विकास भी कहते हैं। इसमें स्वाभाविक रूप से घिसकर शब्दों की ध्वनियाँ स्वयं विकसित हो जाती हैं।

उदाहरण—सर्प=साँप मया=मैं
कूप=कुआँ वर्तते=बाटे आदि।

१२. विदेशी ध्वनि का अभाव तथा प्रभाव—किसी भाषा में अन्य भाषा की विशिष्ट ध्वनियाँ न होने से अपनी भाषा की मिलती-जुलती ध्वनियों से उनकी पूर्ति कर ली जाती है। अंग्रेजी की वर्त्स 'ट', 'ड' मूर्द्धन्य या तालव्य में परिवर्तित हो गई; जैसे—.. 'डिक्स'। अंग्रेजी में लिखे Gupta, Mi..

जर्मन भाषा के मर्मज्ञ याकोब ग्रिम हैं। अपने १८१९ में [illegible] एक व्याकरण प्रकाशित किया। जिस नियम का विवरण उस व्याक द्वितीय संस्करण (सन् १८८२) में है। ये नियम प्राचीन भारोपीय संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, जर्मन, गाथिक तथा अंग्रेजी के तुलनात्मक विवेच पश्चात् बनाये थे। इस नियम का सम्बन्ध भारोपीय स्पर्शों से है जो लैटिन, संस्कृत आदि भाषाओं की तुलना में, जर्मन भाषा में विकसित परिवर्तित हो गये थे। जर्मन भाषा का यह वर्ण-परिवर्तन दो बार हु प्रथम वर्ण-परिवर्तन ईसा की कई शताब्दी पूर्व हुआ था और द्वितीय परिवर्तन सातवीं शताब्दी के आस-पास हुआ, जब एंग्लो-सेक्सन लोग जर्मन लोगों से पृथक् हो गये थे। दोनों वर्ण-परिवर्तन जातीय मिश्र फलस्वरूप हुए थे।

प्रथम वर्ण-परिवर्तन— (First Sound Shifting)—प्रारम्भ में नियम का स्वरूप इस प्रकार से था—

(१) जहाँ संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि में अघोष अल्पप्राण स्पर्श होत वहीं गाथिक अंग्रेजी, डच आदि भाषाओं में महाप्राण ध्वनि और उच्च में संघोष वर्ण होता है।

(२) संस्कृत आदि का महाप्राण, गाथिक आदि का सघोष उच्च का अघोष वर्ण होता है।

(३) संस्कृत आदि का सघोष-गाथिक का अघोष उच्च जर्मन में म प्राण होता है। संक्षेप में यह निम्न प्रकार से है—

संस्कृत आदि	गाथिक	उच्च जर्मन
(१) अघोष (क्, त्, प्)	महाप्राण (ख्, थ्, फ्)	सघोष (ग्, द्,
(२) महाप्राण (ख्, थ्, भ्)	सघोष (ग्, द्, ब्)	अघोष (क्, त्,
(३) सघोष (ग्, द्, ब्)	अघोष (क्, त्, प्)	महाप्राण (ख्, थ्,

इस नियम में अनेक दोष देखकर ग्रिम ने (१८२२ ई० के) द्वितीय सस्क में कुछ सुधार किए तथा भारोपीय ध्वनियों के पारस्परिक परिवर्तन को प्र वर्ण-परिवर्तन तथा उच्च-जर्मन के परिवर्तन को द्वितीय वर्ण-परिवर्तन

	भा रो पी य			ज र्म नि क		
	संस्कृत	ग्रीक	लेटिन	अंग्रेजी	गॉथिक	जर्मन
(क) 'प्' से 'ग्' (ह)	हंस	khen	(H) anser	goose गूज	gans गंस	प्राचीन उच्च जर्मन (प्रा० उ० ज०)
'प्' से 'द्' (ह)	पितः पा	Thesis	thesis	deed डीड	—	
भ् से ब्	विधवा	—	—	widow विडो	—	ga-deds, tat टाट
	धूम	—	—	dust डस्ट	—	
	भरामि	Pherein	fero	bear बीअर	—	bairan
(ख) ग् से ब्	भ्रातृ	—	—	brother ब्रादर	—	—
	भवा (मि)	Phuo	—	be बी	—	pim (प्रा० उ०)
द् से त् (ट्)	पुगम्	zugon	iugum	yoke योक	Juk	Jock (याख जग)
	गो	—	—	cow काउ	—	—cu
	दंश	—	decem	ten टेन	raihun	
ब् से प्	दो	—	—	two टू	—	zehn (जेस्न)
	—	deka	labium	lip लिप्		—zwei
(ग) कु से ग् (ह)	*लेउब	—	Lomba	lap लेप		
	कः	—	—	slip		
	कद्	—	quo	who हू	hwo	hwer
	शुनः	kunos	quod	what	hwas	was
	(प्रचीन कु के स्थान पर ग्)	—	canis	hound (h=kh)	hunds	hund

प्राण ध्वनि की स्थिति मान्य हो सकती है, यथा—

पूर्वावस्था	उत्तरावस्था
*√भुध से बोधामि	√बुध से बोधामि
धधामि	दधामि
भभार	बभार आदि।

अपवादस्वरूप जहाँ क्, त्, प्, के स्थान पर ग्, द्, ब् मिलते हैं वहाँ प्राचीनतम में क्, त्, प् का पुराना रूप ख् (ह), थ्, फ् अर्थात् भारोपीय भाषा में घ् ध्, भ् रहा होगा जिसका आगे चलकर ग्, द्, ब् बना होगा। इस कल्पना से वर्ण-परिवर्तन नियमानुकूल हो जाता है तथा जिन रूपों में अपवाद स्वरूप एक पग आगे परिवर्तन हो जाता था, उनका इस नियम से समाधान हो गया।

वर्नर-नियम—ग्रासमैन-नियम के पश्चात् भी कुछ अपवाद रह गये थे। जैसे क्, त्, प् के स्थान में जर्मन भाषाओं में ग्, द्, ब् हो जाता है। उदाहरणार्थ—युवक, शतम् का साधारण नियमानुसार यूथ (youth), हन्थ्रेड (hunthred) होना चाहिये था परन्तु यंग (young) तथा हन्ड्रेड (hundred) रूप मिलता है। वर्नर ने इन अपवादों पर विचार कर यह निश्चित किया कि ग्रिम-नियम स्वराघात (accent) पर आधारित था। मूल भाषा के क्, त्, प् के पूर्व यदि स्वराघात हो तो ग्रिम-नियम के अनुसार परिवर्तन होता है पर यदि स्वराघात क्, त्, प् के बाद वाले स्वर पर हो तो परिवर्तन एक पग और आगे ग्रासमैन नियम की भाँति ग्, द्, ब् हो जाता है। इसमें यदि मूल भारोपीय भाषा के पूर्व स्वराघात न होने पर स्, ह् फ् (s, h, f) महाप्राण स्पर्श अन्तस्थ बन

प्रश्न २१—ग्रासमैन और वर्नर के ग्रिम-नियम-संशोधन पर
हुये ध्वनि-नियमों का विवेचन कीजिए। (वि०

ग्रिम-नियम में अनेक अपवाद देखे गये। इन अपवादों का प्र
सादृश्य की भावना है। उदाहरणार्थ फादर (Father), मदर (Mo
(Brother) बदर तीनों शब्दों में 'द' (Th) ध्वनि सामान्य रूप से
परंतु जर्मन में इसके रूप फाटर (Fater), मटर (Mutter)
(Bruder) मिलते हैं जिनकी ध्वनियों में पर्याप्त अन्तर है परन्तु आधुनि
में सादृश्य के कारण एकरूप कर दिये गए हैं। सदृश विदेशी उधार
ध्वनियाँ भी अपवाद का कारण हैं। जैसे संस्कृत में 'क्रमेलक' शब्द
भाषाओं से केमिल (Camel) से उधर ली गई है। 'र' और 'क' ध्वनि
इसमें अन्तर्भूत होने के कारण से यह संस्कृत का शब्द प्रतीत होता है।

ग्रिम महोदय ने स्वयमेव इन अपवादों के आधिक्य को स्वीकार किया
कुछ अपवाद नियमित हुए हैं, यथा स्क, स्त तथा स्प ध्वनियों में 'स्' ध्वनि
कई स्थानों में वर्ण-परिवर्तन नहीं होने दिया। क्त (KT) और प्त (PT) मे
अपरिवर्तित रहा तथा त्त (TT) गॉथिक में थ्ट (Tht) और बाद में स्स् (ss
ध्वनि में बदल गया।

ग्रासमैन-नियम—ग्रिम के ध्वनि-नियम के अनुसार क्रमशः क्, त्, प् का
ख् (ह), थ्, फ् होना चाहिए परन्तु अपवाद स्वरूप ग्, द्, ब् मिलता है।
उदाहरणार्थ ग्रीक किखो से अंग्रेजी में हो (Ho), तुप्तोस से थम (Thump)
और पियास में फाड़ी (Fody) बनना चाहिये पर, गो (go), डम (Dump)
या बाड़ी (body) मिलता है। इस अपवाद का समाधान ग्रासमैन ने यह
यम बना कर किया कि मूल भारोपीय भाषा में यदि शब्द या धातु के आदि
र अन्त दोनों स्थानों पर ध्वनियाँ महाप्राण हों तो संस्कृत और ग्रीक आदि में
प्रायः एक ध्वनि अल्पप्राण बन जाती है। जैसे संस्कृत की √ हु (=हवन
करना) का मूल रूप, जुहोति, जुहुतः, जुह्वति—
होना चाहिए। इसी प्रकार √भू—
बनता है।

इससे यह परिणाम नि
रही होंगी। पहली अवस्था

अंतस्थ ध्वनि में परिवर्तित हो गया और पश्चस्थ क् का ख् और ग् का ग् हो गया। इस ग्रोक में ग्रीक, लैटिन आदि को 'क' और 'ओ' ध्वनियों के सुरक्षित रहने के कारण इस भारोपीय के संस्कृत की अपेक्षा अधिक निकट समझा जाने लगा है।

ग्रीक-नियम—इस भारोपीय शब्द में दो स्वरों के मध्यवर्ती 'स्' का ग्रीक में 'ह' होकर लुप्त हो जाना, जैसे—*Genesos = genehes = geneos।

लैटिन नियम—इसमें पूर्वोक्त 'स' का 'र' हो जाना, जैसे—*Genesos = generos

फारसी-नियम—संस्कृत 'स' का फारसी में 'ह' मिलना, यथा सप्त = हफ्त, सिंध = हिंद।

अन्य ध्वनि-नियम—पोएट्य या मूर्धन्य नियम आदि हैं।

प्रश्न २०—भारोपीय परिवार की विशेषताओं और महत्व पर प्रकाश डालते हुए उसके विभाजन का भी परिचय दीजिए। (पं० वि० १९५१)

भारोपीय परिवार विश्व का सर्वाधिक सभ्य-प्रतिष्ठ परिवार है। इस परिवार की भाषाएँ विश्व में सबसे अधिक संख्या के द्वारा बोली जाती हैं तथा भौगोलिक विस्तार की दृष्टि से इसका महत्व है। इस परिवार का क्षेत्र उत्तरी भारत से लेकर अर्मीनिया होता हुआ यूराल-अल्टाई भाग को छोड़कर ब्रिटिश द्वीप पर्यन्त है। इसके साथ ही प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य तथा धर्म की दृष्टि से इस परिवार का महत्व अत्यधिक है। भाषा वैज्ञानिक महत्ता की दृष्टि से संस्कृत की वैदिक निधि अन्यतम है। इसके साथ ही आज भी विश्व में इस परिवार की भाषाओं का अन्तर्राष्ट्रीय महत्व है तथा वे सभ्य जातियों की भाषाएँ मानी जाती हैं। अंगरेजी, फ्रेंच, रूसी, स्पेनिश तथा हिन्दी आज अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं।

नामकरण—इस परिवार के अनेक नाम हैं। सर्वप्रथम इसे भारत-जर्मनी "इन्दो-जर्मनिक' नाम दिया गया था क्योंकि इसकी सीमा भारत से जर्मनी तक आंकी गई परन्तु केल्टी शाखा की भाषाओं की दृष्टि से यह नाम उपयुक्त न समझा गया। मैक्समूलर का आर्य परिवार तथा अन्य नाम इण्डो-केल्टिक और जेफेटिक भी सर्वमान्य न हो सके। भौगोलिक दृष्टि से इण्डो-केल्टिक नाम

'र' मिला है। जैसे स्नुषा का Snosu रूप न मिलकर Snoru
इसके लिए वर्नर ने स्वराघात को ही कारण माना। 'स्' के पूर्व
पर 'स्' ही रहेगा अन्यथा 'र्' हो जायेगा।

वर्नर ने एक दृष्टिकोण रखा कि भारोपीय क्, त्, प् के
हो (यथा स्क, स्त, स्प) तो जर्मनिक में आने पर ध्वनियों में किसी
परिवर्तन नहीं मिलता। इसी प्रकार स यदि क् या प् के साथ हो
परिवर्तन नहीं होता।

उदाहरणार्थ—

भारोपीय				जर्मनिक		
	संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	गाथी	अंग्रेजी	उच्च जर्म
स्क-स्क	—	—	piskis	fisks	fish	fisch
स्त-स्त	आस्ति	esti	est	ist	is	ist
स्प-स्प	अष्टा	okto	octo	ahtau	—	acht
	नप्ता	—	spicto	—	—	spehon(O
		—	Neptis	—	—	Nift (O H

वर्नर के इस उपनियम (Corollary) के संशोधन के पश्चात् भी कई
के कारण ग्रिम-नियम में अनेक अपवाद रह गये हैं।

अन्य ध्वनि-नियम

तालव्य-नियम (Palatal Law)—कंठ्य व्यंजन के तालव्य हो जाने से
इसे तालव्य-नियम कहा जाता है। कुछ शब्दों में संस्कृत में क् और ग् के
स्थान पर अन्य भाषाओं में क् और ग् मिलते हैं। इस प्रवृत्ति का यह नियम
बता कि संस्कृत शब्दों में 'अ' स्वर, ध्वनि की दृष्टि से ग्रीक का लैटिन को (O)
की तरह है। उसके पूर्व क् या ग् हो तालव्य पाया जाता है, पर यदि 'अ' स्वर
लैटिन का ग्रीक ई (e) की भाँति है तो संस्कृत क् या ग् न होकर तालव्य क्
और ग् मिलता है। जैसे—गृह ई' धातु पद से बने दो शब्द 'जघनि' (ज् + घ के
घ ग्रीक ई (e) की भाँति है) और 'जघन्' (ज् + घ के घ ग्रीक (o) की भाँति
है) में यह देखा जा सकता है। यह सिद्धान्त यह है कि किसी शब्द के संस्कृत
'अ' के स्थान पर 'ए' और 'ओ'

३—जो प्रत्यय जोड़े जाते हैं उनके स्वतंत्र अर्थ का पता नहीं है। परन्तु यह अनुमान है कि ये भारोपिय प्रत्यय भी स्वतंत्र शब्द थे तथा अन्य भाषाओं के प्रत्ययों की भाँति उनका भी अर्थ था, कालान्तर मे धीरे-धीरे ध्वनि-परिवर्तन के चक्र मे पड़ने से उनका आधुनिक रूप मात्र शेष रह गया है।

४—पूर्व-सर्ग या पूर्व-विभक्तियों का प्रयोग बान्टू परिवार की भाँति सम्बन्ध सूचक या वाक्य-रचना के लिए नहीं होता है। भारोपीय कुल में इनका अधिकता से प्रयोग शब्द तथा क्रिया के अर्थ को बदलने मे किया जाता है यथा—आहार, विहार तथा परिहार मे 'आ', 'वि' तथा 'परि' पूर्वसर्ग या उपसर्ग हैं तथा इनकी मूल प्रकृति समास की तरह होती है और इनको धातु या शब्द से पृथक् किया तथा छोड़ा जा सकता है।

५—भारोपीय-परिवार की प्रमुख विशेषता समास-रचना की विशेष शक्ति है। समास बनाते समय विभक्तियों का लोप हो जाता है। समस्त पद का अर्थ तथा उन शब्दो के स्थान पर रखने से (जिनसे समास बना है) समझित अर्थ मे महान् अन्तर होता है। समस्त पद मे एक नया अर्थ निकलने लगता है। वास्तव मे भारोपीय समास को हम व्यवहित अवस्था मे अभिव्यक्त वाक्य-खण्ड के रूप मे ले सकते हैं। वैदिक भाषा का समस्त शब्द बहुत बड़ा तथा लम्बा होता है। इसी प्रकार संस्कृत मे भी यही दशा है।

६—प्रकृति या अक्षरावस्थान (Vowel gradation) इस परिवार की एक विशेषता है। इसमें स्वर-परिवर्तन से प्रत्यय या सम्बन्ध तत्व सम्बन्धी परिवर्तन हो जाता है। समझ आरम्भ मे किसी शब्द मे विशिष्ट स्थान पर स्वराघात के कारण स्वर-परिवर्तन से धीरे-धीरे प्रत्ययों का लोप हो गया तो सम्बन्ध तत्व परिवर्तन, स्वर परिवर्तन के द्वारा स्पष्ट होने लगा। इस तथ्य का दर्शन अंग्रेजी की बली क्रियाओं मे स्पष्ट रूप मे मिलता है जैसे —drink, drank, drunk मे। यहाँ (i), (a) तथा (u) मे स्वर-परिवर्तन से उनमें का सम्बन्धी परिवर्तन हो गया है। इसमे स्वराघात के कारण ध्वनि मे भी अन्तर हुआ है।

७—सम्पूर्ण भारोपीय परिवार मे प्रत्यय-रूपों का आधिक्य है। इसका एक-मात्र कारण एक धातु से निकलने पर विभिन्न प्रत्ययों का स्वतन्त्र रूप से

अल्बेनियन की गेक्स, कालिक और लिटन भाषाएँ हैं।

इण्डोनिक—यह भारोपीय परिवार की महत्वपूर्ण शाखा है। इसकी शाखाएँ जर्मनी, स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क, इंग्लैंड आदि में बोली जाती हैं। इसके तीन उपवर्ग हैं—१. पूर्वी जर्मन २. उत्तरी जर्मन ३. पश्चिमी जर्मन। पश्चिमी जर्मन उपशाखा का साहित्य तथा प्रचार की दृष्टि से बड़ा महत्व है। इसकी जर्मन भाषा तथा अंग्रेजी ने साहित्य समृद्धि के कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति प्राप्त कर ली है। 'ग्रिम-नियम' का ध्वनि-परिवर्तन पश्चिमी जर्मनी की उच्च तथा निम्न जर्मन भाषा पर आधृत है। ये भाषाएँ प्राचीन काल से ही हित से दक्षिण की ओर बढ़ रही हैं।

लैटिन या इतालिक—इस शाखा की प्रमुख भाषा लैटिन है। यह रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय की धार्मिक भाषा है। केल्टिक के समान इसके भी दो वर्ग 'प' और 'क' हैं। पहले को लैटिन तथा दूसरे को एम्ब्रो-सेमेनिटिक कहते हैं। भारोपीय के अध्येता के लिए लैटिन का महत्व भी संस्कृत और ग्रीक के समान ही है। इसी से रोमान्टिक फ्रेंच, स्पेनिश, पुर्तगाली, इतालियन तथा रूमानियन भाषाओं का विकास हुआ है।

हैलेनिक—वैदिक संस्कृत के बाद इस परिवार की भाषाओं का प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य ग्रीक भाषा में होमर की इलियड तथा ओडेसी महाकाव्यों में सुरक्षित है जो ई० पू० ८५० का कहा जाता है। यह लैटिन के समान सभ्य तथा विद्वान् समाज की भाषा रही है। ग्रीक भाषा तथा वैदिक संस्कृत में अत्यधिक साम्य है। दोनों में ही संगीतात्मक स्वराघात प्रधान था तथा बाद में दोनों बलात्मक स्वराघात की ओर प्रवृत्त हुई। संस्कृत में संज्ञा, सर्वनाम तथा ग्रीक में क्रिया और अव्यय के रूपों की अधिकता है। ग्रीक में स्वरों तथा संस्कृत में व्यंजनों की अपेक्षाकृत अधिकता है।

हित्ती या हित्ताइट—हित्ती भाषा का परिचय १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में एशिया माइनर के बोगाजकोइनर की खुदाई से प्राप्त कीलाक्षर-लेखों से मिलता है। प्रो० ह्रोज्नी ने इसे भारोपीय परिवार की सिद्ध कर दिया है। हित्ताइट की विभक्ति, सर्वनाम, क्रिया तथा कारक भारोपीय ही हैं। यह लैटिन के अधिक निकट है।

विकास हुआ और आवश्यकतानुसार विभिन्न रूप से भाषाओं तथा उपभाष
में पृथक् रूप से प्रत्यय-रूपों का प्रयोग हुआ है। अतः यहाँ प्रत्ययों का बहुत
है। भाषा में सभी प्रकार के सम्बन्धों के लिए विभक्तियों या प्रत्ययों का
होता है।

विभाजन

भारोपीय परिवार में कतिपय भाषाएँ ऐसी हैं, जिनमें उन स्थान पर
पाया जाता है जहाँ संस्कृत में 'स' तथा अन्य कई यूरोपीय भाषाओं में
पाया जाता है। प्रागैतिहासिक भारत-यूरोपीय तालव्य क्य, ग्य आदि सभी
कुछ शाखाओं में ज्यों की त्यों रह गई, पर भारत-ईरानी शाखा, अल्बेनियन,
बाल्तोस्लाविक आदि सोप्य संघर्षी स, श, ज, ज़ का रूप ले लेती है। यह
तथ्य मस्कोली ने १८७० में प्रकट किया। इससे यह अनुमानित है कि प्रा
भारोपीय में दो तरह की विभाषाएँ रही होंगी, एक समीपवर्ती भारत, ईरान,
आर्मीनिया, रूस आदि स्थानों में बोली जाती है। अन्य दूरवर्ती विभाषाओं में
इन ध्वनियों का विकास न होने से वे कण्ठ्य रूप में स्पर्श ही बनी रहीं। इसी
आधार पर ब्रानब्रैंडक ने इन समस्त भाषाओं को दो वर्गों में बाँटा है—
शतम् तथा केन्तुम्—इन दोनों शब्दों का अर्थ 'सौ' है। एक में 'क'
पाई जाती है, दूसरे में 'स'।

स्पष्टार्थ - अवेस्ता—सतम्, फारसी—सद
संस्कृत—शतम्, हिन्दी—सौ, रूसी—स्तो, अल्बेरियन—मुतो, लियुआनि
—रिजम्तास, लैटिन—केन्तुम, ग्रीक—हेक्टोन इटैलियन—केन्तो, फ्रेंच-केन्
ओटन—कैन्ट, गेलिक—क्युड, तोखारी—क-ध।

केन्तुम् वर्ग

इस वर्ग में छः शाखाएँ हैं—१. केल्टिक, २. ट्यूटोनिक (जर्मनिक), ३.
लैटिन (इटली), ४. हैलेनिक (ग्रीक), ५. हित्ताइट (हित्ती), ६ तोखारी।

केल्टिक—इस शाखा की भाषाएँ यूरोप के दक्षिणी भाग में बोली जाती
हैं। लैटिन शाखा से इसका रक्त-सम्बन्ध है। इसके ध्वनि-भेद में 'क' और 'प' दो
वर्ग हैं। जैसे केल्म 'पम्प' (गीत) का आइरिश में 'कोइड' है। 'प' वर्ग को
ब्रिटेनिक और 'क' वर्ग को गाडेलिक कहते हैं। गाडेलिक को आइरिश, स्काच,

न्त अनुमानीय है। आर्यों का एक समूह ईरान की ओर बढ़ा तथा कुछ आर्यों भारत में प्रवेश किया। अतः इसको भारत-ईरान की शाखा भी कहते हैं। इस शाखा के तीन उपकुल हैं—(१) भारतीय, (२) दरद तथा (३) ईरानी। भारतीय आर्य शाखा की प्राचीनतम भाषा संस्कृत है, जिसका प्राचीन साहित्य वैदिक मंत्रों के रूप में उपलब्ध है—यह परिवार प्राचीनतम साहित्य निधि है। यह वैदिक साहित्य डेढ़-दो हजार ईसा पूर्व का है। भारतीय आर्य शाखा की परवर्ती भाषाएँ प्राकृत तथा अपभ्रंश की स्थिति को पार करती हुई आज की भारतीय आर्य भाषाओं के रूप में विकसित हुई हैं। अतः इनके तीन विभाग किये गये हैं—प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक काल। ईरानी उपशाखा की अवेस्तन पारसियों की प्राचीन भाषा अवेस्ता मिलती है और यह ऋग्वेदिक मंत्रों से मिलती-जुलती है। इसकी प्राचीनतम भाषा ईसा से लगभग ८०० वर्ष पूर्व की कही जाती है। दरद भाषाओं का क्षेत्र पामीर तथा पश्चिमोत्तर हिमालय है। पश्तो की तरह वाक्य-गठन की दृष्टि से दरद का स्थान ईरानी तथा भारतीय भाषाओं के मध्य है। यदि पश्तो का झुकाव ईरानी की ओर है तो दरद का भारतीय भाषाओं की ओर। दरद उपवर्ग की तीन भाषाएँ हैं—पोशार, काफिर और दरद। अवेस्ता के अतिरिक्त ईरानी का प्राचीन रूप हखामनिश राजाओं के ५२१ ई० पू० क्यूनिफोर्म शिलालेखों में प्राप्त होते हैं। परवर्ती भाषा पहलवी तथा प्रमुख आधुनिक फारसी हैं।

प्रश्न २३—भारतीय आर्य-भाषाओं पर अन्य भाषाओं का क्या प्रभाव पड़ा है? इसको स्पष्ट करते हुए बताइए कि भारत में किन परिवारों की भाषाएँ बोली जाती हैं।

भारतवर्ष एक बड़ा तथा विस्तृत देश है तथा इस दृष्टि से इसको उपमहाद्वीप भी कहा जा सकता है। इसमें अनेक परिवार की भाषा तथा बोलियाँ बोली जाती हैं। इस का मात्र कारण अनेक जाति तथा देशवासियों का इस देश में छप जाना है। भारोपीय भाषाएँ तो इसी स्थान की अमूल्य सम्पत्ति हैं। इसके अतिरिक्त अभारोपीय भाषाओं में द्रविड़ कुल की भाषाएँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं तथा प्रायः समस्त दक्षिण भारत में इनकी व्यापक स्थिति है। अन्य भारोपीय भाषाएँ अधिकांशतः असभ्य आदिवासियों या

तोखारी—यह पूर्वीय तुर्किस्तान के सुरफान प्रदेश की भाषा है। ए लिए इसमें 'कन्य' या 'कन्त' शब्द मिलने से यह भाषा के केन्तुम वर्ग के इस के भारतीय (ब्राह्मी, खरोष्ट्री) लिपि में कुछ पत्र प्राप्त हुए हैं। इस पर भटाई का समीपता के कारण अत्यधिक प्रभाव है। इसमें स्वरों की अधि कम है। संधि नियम तथा विभक्तियाँ संस्कृत के समान हैं। शब्द-भाण्डार संस्कृत के निकट है; यथा पितृ का पाचर्, मातृ का मातर्, अष्ट का ओक्त शतम् वर्ग

इस वर्ग की भाषाओं के चार उपकुल हैं—१. अल्बेनियन, २. बाल्तो-स्ल विक, ३. आर्मेनियन तथा ४. आर्य या भारत-ईरानी।

अल्बेनियन या इलीरियन—यह शाखा कारिन्थियन की खाड़ी से इटली दक्षिणी पूर्वी भाग तक फैली थी। उसमे शिलालेखों के अतिरिक्त कोई भी साहित्यिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती। इसके प्राचीन कालिक तथा माध्य-कालिक रूपों का कोई भी अवशेष आज प्राप्त नहीं है।

बाल्तो-स्लाविक या लेटो-स्लविक—इस शाखा में बाल्टिक तथा स्ला-वोनिक दो उपशाखाओं का अस्तित्व है। बाल्टिक शाखा की प्राचीनतम कृति का पता नहीं लगता है। मध्यकाल में इसकी तीन शाखाएँ हैं—लिथु-आनियन, लेतिश तथा प्रशियन। प्राचीन प्रशियन संभवतः जर्मन के प्रभाव से नष्ट हो गई है। शेष दोनों भाषाएँ इस और पश्चिमी भागों में बोली जाती हैं। स्लाविक उपशाखा की भाषाएँ बल्गेरिया, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, योस्लाविया, यूक्रेन तथा रूस में बोली जाती हैं। आदि भारोपीय ध्वनियाँ इस शाखा में सुरक्षित है।

आर्मेनियन—आर्य वर्ग के पश्चिम में इस शाखा की भाषाएँ स्थित हैं। में ईरानी, तुर्की तथा फारसी शब्द पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। यारत तथा या की सीमा पर बोली जाने वाली फ्रीजियन इसी के अन्तर्गत है। इस ा का नवीन रूप प्राचीन रूप से सर्वथा भिन्न है तथा प्राचीन रूप अब भी क कार्यों में प्रयुक्त होता है इस शाखा पर आर्य तथा अनार्य दोनों यों का प्रभाव है।

भारत-ईरानी तथा आर्य शाखा—भारोपीय-परिवार की आर्य-शाखा का

बारपार (और इसका एक लघु खंड सिंहभूम पर्वत-श्रेणी तक व्याप्त है। इसे सवरी भाषा कहते हैं। सवर भाषा सावरी (जंगली शिकारियों) की भाषा है। इस परिवार की भाषाएँ मुंडारी (बिहार, उड़ीसा बंगाल, आसाम), संथाली (बिहार में रांची के पास तथा अन्यत्र) तथा हो (सिंहभूमि जिले में) हैं। सोलहवीं से सौ वर्ष पहिले तक साहित्य-सम्पन्न भाषा थी, परन्तु अब इसका, बर्मा तथा भारत के जंगली तथा आदिवासियों द्वारा बोली जाती है। इन भाषाओं के नामों में अक्सर दो शब्दों के सिलसिले मिलते हैं। सवरों की भाषा इसी जाति की है। भारत में इससे सम्बन्धित भाषा आसाम प्रान्त में 'खासी' है। अब इस भाषा का रूप विकसित होकर भिन्न हो गया है।

भारतीय आर्य-भाषाओं पर मुण्डा-भाषाओं का प्रभाव—मुण्डा भाषा में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिन से भारतीय आर्य-भाषाएँ प्रभावित हुई हैं। मुण्डा के प्रभाव के कारण ही बिहार में क्रिया रूपों की अत्यधिक जटिलता है। मुण्डा की एक विशेषता दूसरे बहुवचन का उत्तम पुरुष सर्वनाम प्रयोग है। इसके एक प्रकार में मध्यम पुरुष को सम्मिलित कर लिया जाता है तथा दूसरे रूप में नहीं। उदाहरणार्थ—गुजराती में 'आपणे गया हता' का अर्थ हम (और तुम) गये थे तथा 'अमे गया हता' का अर्थ 'हम गये थे' मिलता है जो मुंडा का प्रभाव है। अनेक गणनावाचक संज्ञाओं में भी मुण्डा का प्रभाव पड़ा है। 'कोरी' का 'बीस' आर्य-भाषा में मुण्डा शब्द कुड़ी से आया है।

२. एकाक्षर परिवार—इसे तिब्बत-चीनी परिवार भी कहते हैं। चीनी भाषा का प्रयोग भारत में नहीं होता परन्तु तिब्बत-बर्मी भाषा का प्रयोग उत्तर भारत में पर्वतीय प्रदेशों में होता है। इसकी तीन शाखाएँ हैं—तिब्बत-हिमालयी, असमोत्तरी तथा असम-बर्मी। तिब्बत-हिमालयी शाखा में तिब्बत की मुख्य भाषाएँ और बोलियाँ तथा हिमालय के उत्तरी आँचल की छोटी-छोटी बोलियाँ पाई जाती हैं। लद्दाख तथा कश्मीर में इसी प्रकार की बोलियाँ हैं। असमी-बर्मी शाखा में बर्मी तथा असमी के सीमान्त की छोटी-छोटी बोलियाँ सम्मिलित हैं। जैसे लुशेइ मिश्मी (उ० पू० आसाम), मेइथेइ (मनीपुर), अका (भूटान के पूरब में)। असमोत्तरी आसाम के उत्तरी भाग में बोली जाती है। तिब्बत भाषा की कई गौण बोलियाँ भारतीय सीमा प्रदेश में प्रचलित हैं।

अर्थपूर्ण जातियों का प्रतिनिधित्व करती है इस प्रकार की
में लिखित सामग्री उपलब्ध होती है। कुछ भाषाओं में साहित्य
साथ ही प्राप्त नहीं होता है। भारतीय आर्य-भाषाओं पर इन
सार-भारत, सार-नट्ट का बहुत प्रभाव पड़ा है।

ग्रियर्सन के भाषा-सर्वेक्षण के अनुसार भारत में ८. वर्ग
भाषाएँ तथा ५४४ बोलियाँ बोली जाती थीं। अब करेन और म
का क्षेत्र वर्मा में है। अतः उन्हें भारत के अन्तर्गत नहीं लिया जा
सब भाषाओं को निम्न रूप से वर्गीकृत किया जा सकता है—

१. आस्ट्रिक या आग्नेय परिवार—(क) इण्डोनेशियन। (ख)
एशियाटिक।
२. एकाक्षर परिवार—(क) स्यामी-चीनी। (ख) तिब्बत-बर्मी।
३. द्रविड़ परिवार।
४. आर्य परिवार अथवा भारत-ईरानी भाषाएँ।
५. विविध तथा अनिश्चित समुदाय।

१. आस्ट्रिक या आग्नेय परिवार—इस परिवार की भाषाएँ
प्रशान्त महासागर के आर-पार तक फैली हुई हैं। इनका विस्तार पूर्व-प
में मेडागास्कर से ईस्टर द्वीप तथा उत्तर-दक्षिण में उत्तरी पंजाब से न्
सैंडविच पर्यन्त व्याप्त है। इन भाषाओं के बोलने वालों की संख्या कम है प
क्षेत्र अन्य परिवारों से विशाल है। इसके दो स्कन्ध हैं—आग्नेय देशी म
आग्नेय-द्वीपी। आग्नेय द्वीपी खण्ड मलय-पालिनेशियन भी कहा जाता है
आग्नेय देशी या आस्ट्रो-ऐशियाटिक स्कन्ध की भाषाएँ भारत के अनेक भाग
में बोली जाती हैं। धीरे-धीरे ये लुप्त होती जा रही हैं। अवशिष्ट भाषाओं के
तीन विभाग किए जाते हैं—कोल या मुण्डा, मोनख्मेर या खासी तथा
निकोबारी।

भारत में इस परिवार की भाषाओं में मुण्डा सर्वाधिक प्रधान है। यह
प० बंगाल-बिहार, मध्य भारत, उड़ीसा तथा मद्रास प्रान्त के गञ्जाम जिले
तक मुण्डा तथा कोल वर्ग की भाषाएँ फैली हुई हैं। भाषाएँ अनेक स्थानों
पर द्रविड़ भाषाओं से घिरी हुई हैं। हिमालय शृंखला के [illegible]

भारत में कोंकणी भाषा भी इसी का रूप है। इस परिवार की भारत में प्रचलित भाषाएँ तीन हैं—ईरानी, दरद और भारतीय। ईरानी भाषा का फारसी रूप अब भी साहित्यिक रूपों में प्रयुक्त होता है। उर्दू और खड़ी बोली में भी इसके अनेक शब्द हैं। पर यह बोली नहीं जाती है। दरद भाषा को पिशाच या पैशाची भी कहा गया है। भारत में अब इसका प्रभाव लहँदा, सिन्धी, पंजाबी और सुदूर कोंकणी मराठी पर भी यथेष्ट लक्षित होता है। 'काश्मीरी' भाषा का विकास पैशाची अपभ्रंश से माना जाता है। पर इस पर संस्कृत का यथेष्ट प्रभाव है।

भारतीय भाषाओं का सर्वाधिक आधिपत्य उत्तरी भारत में है। इसका साहित्य भाषा-विज्ञान की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। वैदिक संस्कृत से हिंदी पर्यंत इसका विकास अक्षुण्ण चला आ रहा है जो इन भाषाओं की महानता का सूचक है। त्रिवर्सन का विभाजन भारतीय भाषाओं पर आधारित है। हिंदी का क्षेत्र बहुत व्यापक है तथा राष्ट्र-भाषा के कारण अन्य प्रांतीय भाषाओं पर इसका प्रभाव है। आर्य परिवार का प्राचीनतम प्रामाणिक साहित्य इसी शाखा में उपलब्ध है जो भाषा-विज्ञान के लिए एक महत्वपूर्ण सामग्री का कार्य करता है। यों तो हिन्दी की बोलियों में अंग्रेजी, फ्रेंच, पुर्तगाली, अरबी आदि के शब्द भी घुलमिल गये हैं। इस दृष्टि से इनका प्रभाव दर्शनीय है।

५. विविध या अनिश्चित समुदाय—इसमें कुछ भारत में बोली जाने वाली वे भाषाएँ आती हैं जिनको किसी वर्ग या परिवार में रखना या रूप के अत्यधिक सम्मिश्रण के कारण नहीं रखा जा सका है। मुंडारी भाषा का सम्बन्ध कुछ विद्वानों ने द्रविड़ और मोहनजोदड़ो की सभ्यता से स्थापित किया है। दो भाषाओं का क्षेत्र भारत में है उनमें एक अण्डमानी है। यह अण्डमान द्वीप की भाषा है। दूसरी 'बुरुशास्की' या बदूना है। इसका क्षेत्र काश्मीर के उत्तरी पूर्वी कोने पर है। द्रविड़ या आस्ट्रिक से इसका सम्बन्ध सूत्र स्थापित करने का प्रयास निष्फल हुआ है।

प्रश्न ८४—मूल (आदिम) भारोपीय भाषा की संस्कृत भाषा के साथ तुलना करते हुए उसकी वर्णमाला, ध्वनियों और उदासीन स्वर (neutral vowel) की कल्पना पर प्रकाश डालिए।

प्रभाव—इसकी भाषा में संस्कृत का बहुत प्रभाव होना स्वाभाविक ही है। मैसूर की बहुत बोली जाने वाली कन्नड़ पर आर्य-भाषा संस्कृत का काफी प्रभाव है। इसलिए वर्ग की भाषाएँ प्रायः प्रधान हैं, आर्य भाषाओं में भी कहीं कहीं इसका प्रभाव होने की विशेषता पाई जाती है। पहली भाषाओं पर इसका अधिक प्रभाव है।

१. द्रविड़ परिवार—भारत में आर्य भाषाओं के पश्चात् इस परिवार की भाषाओं का सर्वाधिक महत्व है। अधिकांशतः यह कुल से भिन्न है। इसका साहित्य अत्यधिक विकसित तथा उन्नत है। इन भाषाओं में तमिल कन्नड़, तेलुगु तथा मलयालम प्रमुख हैं। इस परिवार की भाषाओं में तमिल का साहित्य सर्वाधिक उन्नत और विशाल है तथा इसमें साहित्य की रचना आठवीं शती से चली आ रही है। तमिल की पुत्री मलयालम है जो १७वीं शताब्दी में तमिल से पृथक् हो गई थी। भारत के दक्षिणी-पश्चिमी समुद्र-तट पर अब भी बोली जाती है। इसका साहित्य अच्छा है तथा ब्राह्मणों के प्रभाव से यह संस्कृत-निष्ठ हो गई है। कन्नड़ मैसूर की भाषा है। इसका काव्य तथा साहित्य प्राचीन है तथा तमिल से तेलुगु के निकट है। तेलुगु अथवा आन्ध्र भारत दक्षिण पूर्व के क्षेत्र में बोली जाती है। इसके शब्द स्वरान्त तथा भाषा मधुर है। जन-संख्या में यह इस कुल की सबसे बड़ी भाषा है। इस वर्ग की भाषाएँ प्रत्यय संयोग प्रधान तथा अनेकाक्षर होती हैं।

आर्य-भाषाओं पर प्रभाव—आर्य परिवार (संस्कृत) में मूर्धन्य ध्वनियाँ (टवर्ग) इसी परिवार के प्रभाव से आई प्रतीत होती हैं। लकार (गला=गर) और र का ल (हरिद्रा=हल्दी) में भी इन भाषाओं का प्रभाव दृष्टिगत है। द्रविड़ भाषा के प्रभाव से मराठी आदि में अब भी तीन लिंग प्राप्त होते हैं। आर्य-भाषाओं में सोलह पर आधारित माप भी इसी परिवार की देन है, यथा सेर-छटाँक, रुपया, आना। भारतीय भाषाओं में अरबी, कठिन, कोण, उलूखल, मीन, नीर, आलि आदि अनेक शब्द इस वर्ग से ही आए हैं तथा उनमें तिङन्त की अपेक्षा कृदन्त रूपों का अधिक प्रयोग भी इन्हीं भाषाओं के कारण है।

२. आर्य-परिवार—प्रायः इन भाषाओं का क्षेत्र उत्तरी भारत है। दक्षिणी

भारोपीय परिवार की समस्त भाषाओं में कुछ ऐसी निकट समानताएं हैं जिनके कारण इन्हें एक परिवार में सम्मिलित किया जाता है। उदाहरणार्थ

संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	जर्मन	अंग्रेजी	स्लावोनिक
१. पितृ (पितर),	पतेर, (pater),	पतेर,	वातेर (vater),	फादर (father)	
२. भरामि,	फेरो (Phero),	फेरो (fero)	—बीयर (Bear),	बेरिन (bera	
३. वृकान्,	लुकोउस (lukous lukons)	लुपोस (lupos	वुल्वस (wolv		
			वुल्फोन्स (wulons		

उपर्युक्त सभी शब्दों में एक पदान्तता पाई जाती है। ग्रीक तथा लैटिन तो व्यंजन ध्वनियाँ भी संस्कृत के समान ही हैं। ध्वनि-नियमानुसार जर्मन व अंग्रेजी ध्वनियों में परिवर्तन हो गया है। यद्यपि इन भाषाओं में अपनी-अप निजी विशेषताएँ हैं अपितु इन सब समानान्तर रूपों में हम एक समान सूत्र कल्पना कर सकते हैं। वह क्रमशः १* पृअतेर (*pater), २* भरे-(*bhe तथा ३*ब्लुकोन्स (* wolk-ons) हो सकते हैं। तुलनात्मक अध्ययन पश्चात् निश्चित किया हुआ यह रूप भारोपीय परिवार की काल्पनिक आदि भाषा (Ursprach) का माना गया है। रूप, अर्थ, अपश्रुति तथा विभ आदि के समान व्याकरणात्मक सम्बन्ध के विवेचन के आधार पर कुछ विद्वा ने इस आदिम भारोपीय का अनुमान लगाया है। भारोपीय परिवार के विद्यमान विभिन्न प्राचीन भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध के अनुसार इ भारोपीय भाषाओं का आदि स्रोत तथा जननी के रूप में कल्पित किया है कल्पित रूप होने के कारण इस भाषा के शब्दों को तारक चिन्हित (*) कर दिया जाता है। ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृत (वैदिक) आदि का मातृत्व इसे अनुमानित रूप से सौंप दिया गया है।

मूल भारोपीय ध्वनियाँ—इन आदिम ध्वनियों का अस्तित्व अभी विवादास्पद है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, डा० सुकुमार सेन, डा० बाबूराम सक्सेना, डा० उदयनारायण तिवारी आदि ने विदेशी पुस्तकों के आधार पर इन ध्वनियों का विवरण दिया है।

(१) स्वर

ह्रस्व

(ग) ह्रस्व स्वर अ, ऐ, औ।
(घ) दीर्घ स्वर आ, ऐ, औ।

संयुक्त स्वर—संयुक्त स्वरों की संख्या छत्तीस थी जो उपर्युक्त स्वरों के साथ इ, ऋ, ऌ, उ, न्, म् के मेल से बने थे, जैसे अइ, अऋ, 'आलू' तथा 'औउ' आदि।

समीक्षा—ग्रीक में दुर्बल 'अ' को छोड़कर शेष ए शुद्ध स्वर प्राप्त होते हैं परन्तु संस्कृत में आकर अ तथा उसका दीर्घ रूप आ ही शुद्ध रूप में उपलब्ध होते हैं तथा अन्य स्वर इन्हीं में अन्तर्हित हो गये हैं। उदाहरणार्थ—

संस्कृत	ग्रीक	आदिम भारोपीय
अ = ऐ भरामि	फेरो (phero)	*भेर् (*bher)
अ = ओ अष्ट	ओक्तो (octo)	*ओक्तो (*octo)
आ = ओ ज्ञातः	*ग्नोतोस् (*gnotos)	*ग्नतोस् (*gn-tos)

संस्कृत ए, ओ, अ ए, ओ शुद्ध भारोपीय स्वर न होकर ध्वनि-युग्मों से जनित हैं।

उदासीन या दुर्बल स्वर (Neutral Vowel)—यह उदासीन या दुर्बल स्वर अ (a) है। यह दुर्बल इसलिए कहा जाता है क्योंकि मात्रा की दृष्टि से यह ह्रस्व स्वर का भी आधा है। इसका उच्चारण अस्पष्ट होता है। योरोपीय भाषाओं में इसे 'श्वा' (Nchwa) कहा जाता है तथा ई (e) को उलट कर लिखते हैं। इस की कल्पना का कारण यह है कि जहाँ अन्य भारोपीय भाषाओं में 'अ' स्वर पाया जाता है वहाँ भारत-ईरानी शाखा में कई समानान्तर शब्दों में 'इ' हो जाता है। यदि आ० भा० यू० में 'अ' ही माना जाय, तो भारतेरानी वर्ग में 'अ' अक्षुण्ण होना चाहिए था। उदाहरणार्थ—ग्रीक शब्द पतेर (pater) का संस्कृत में समकक्ष शब्द पितृ (पितर) है। यदि मूल भाषा में 'अ' स्वर होता तो संस्कृत में *पतृ (पतर) रूप होना चाहिए था, यह नहीं मिलता। अतः स्पष्ट होता है शब्द में मूल स्वर 'अ' (a) नहीं था। इसीलिए उसे अ (a) माना गया है। इस शब्द का भारोपीय मूल रूप *ए्पतेर (pater) रहा होगा।

(२) अन्तस्थ य् (इ), व् (उ), र् (ऋ), ल् (ऌ), न् (न), म् (म)।
आदिम भारोपीय भाषा में ये छः अन्तस्थ कल्पित किये गये हैं। अन्तस्थ

ये अनुनासिक व्यंजन हैं जो कभी-कभी अक्षर-संघटना (Syllabic Function) में स्वर का भी काम करते हैं। इनके स्वर रूप ऊपर कोष्ठक के अन्दर दिये गए हैं। मात्रा की दृष्टि से इनके ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत प्राप्त होते हैं। इनका प्रयोग संयुक्त स्वर की भाँति ध्वनि-युग्मों (अय्, ऐय्, ओय्, आय्, एय् ओय् आदि) में भी पाया जाता है।

(३) व्यञ्जन अघोष अल्पप्राण, अ० महा०, सघोष अल्प०, स० महा०

(क) स्पर्श—(१)

१. कवर्ग (i) (कण्ठ्य) क् (k), ख् (kh), ग् (g), घ् (gh)

(ii) (तालव्य) क्य् (k) ख्य् (kh), ग्य् (g), घ्य (gh)

(iii) (कण्ठोष्ठ्य) क्व् (k), ख्व् (kh), ग्व् (g), घ्व् (gh)

२. तवर्ग (दन्त्य) त्, थ्, द्, ध्

३. पवर्ग (ओष्ठ्य) प्, फ्, ब्, भ्,

(ख) ऊष्म—स (ज़)

डा० चेटर्जी (i) को पुर-कण्ठ्य तथा (ii) को पश्चकण्ठ्य मानते हैं। अतः इस विषय में भी मतभेद है। तवर्ग को कुछ दन्तमूलीय या वर्त्स्य भी मानते हैं। 'ह' ध्वनि के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ विद्वान् इसके दो रूप 'घोष' और 'अघोष' मानते हैं कुछ हिन्दी के आधार पर एक ऊष्म या संघर्षी व्यंजनों में 'स' के अतिरिक्त क़, ख़, ग़, फ़, ज़, थ्, द्, ध् झ् अन्य संघर्षी व्यंजनों का भी अनुमान लगाते हैं।

इसमें ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ भी हैं। स्वरों के अनुनासिक रूपों का प्रयोग नहीं होता था जैसे अँ, ईं आदि। दो या अधिक मूलस्वर एक साथ नहीं आ सकते थे। संधि के नियम लागू होते थे। दो या अधिक व्यञ्जन का एक साथ आना सम्भव था।

आरोपीय मूल भाषा की व्याकरण सम्बन्धी विशेषताएँ—धातु में प्रत्यय जोड़कर शब्द बनते थे। रूपों के आधिक्य तथा पद-रचना बड़ी जटिल थी। प्रारम्भ में उपसर्ग तथा मध्यसर्ग का प्रयोग नहीं होता था। संज्ञा, क्रिया और अव्यय अलग-अलग होते थे। विशेषण तथा सर्वनाम संज्ञा के अन्तर्गत ही आते थे तथा अव्यय भी विकारी होते थे। सर्वनाम [illegible] रूप थे। संस्कृत के

अनुसार तीन पुरुष, तीन लिंग तथा तीन वचन थे। पहले प्राकृतिक लिंग थे तथा उनका प्रयोग संज्ञा में ही होता था। आठ विभक्तियाँ थीं तथा समास-रचना में उनका प्रयोग छोड़ दिया जाता था। काल चार थे। क्रिया में उसके किये जाने और फल का विचार था और काल का योग। आत्मनेपद तथा परस्मैपद दो वाच्य थे। सुर का प्रयोग प्रचलित था तथा भाषा संगीतात्मक थी। पद-रचना में अपश्रुति (ablaut) तथा स्वरक्रम (vowel-gradation) का योग महत्त्वपूर्ण था। सम्बन्ध तत्व तथा अर्थतत्व का नीर-क्षीर-सम्मिश्रण था उनको अलग करना कठिन कार्य था। मूल-भाषा की प्रवृत्ति अन्तर्मुख विश्लिष्ट-योगात्मक थी।

आदिम भाषा की वैदिक संस्कृत से तुलना करने पर संस्कृत तक आते-आते ध्वनियों में पर्याप्त विकार आ गया था। व्यञ्जनों में चवर्ग और टवर्ग दो नए वर्ग आ गए थे। ष, क्ष, ज्ञ नई ध्वनियाँ आ गई थीं। कवर्ग की केवल एक कण्ठ्य ध्वनि रह गई थी। स्वरों में भी पर्याप्त परिवर्तन हुआ। व्याकरणिक विशेषताओं में भी थोड़ा सा विकास संस्कृत भाषा में लक्षित होता है।

प्रश्न २५—अवेस्ता वैदिक और लौकिक संस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कीजिए।

वैदिक संस्कृत तथा अवेस्ता के अध्ययन से तथा साथ ही नूतन गवेषणाओं से यह सिद्ध हो गया है कि वैदिक संस्कृत और अवेस्ता एक ही पिता की दो पुत्री हैं। ईरानी और वैदिक आर्यों के पितामह एक ही भाषा बोलते थे। यह अब निर्विवाद रूप से सत्य प्रतीत हो रहा है। दोनों भाषाओं का अति निकट का सम्पर्क तथा चोली-दामन का साथ है। अतः इन दोनों भाषाओं के संक्षिप्त परिचय और पारस्परिक सम्बन्ध पर आगे दृष्टिपात करेंगे।

ईरानी अथवा अवेस्ता—ईरानी में साहित्य-रचना बहुत पहले से प्रारम्भ हो गई थी परन्तु अब सब वाङ्मय या तो नष्ट हो गया या जला डाला गया। पारसी धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' में ईरानी का प्राचीनतम रूप उपलब्ध है। इसकी भाषा वैदिक मन्त्रों से मिलती-जुलती है। इसके अतिरिक्त हखामनी शासकों के ईसा की छठी शताब्दी के कुछ पुराने शिला-लेख भी मिलते हैं। अवेस्ता ईरान की राजभाषा थी। अवेस्ता का अर्थ 'शास्त्र' है। ऋग्वेदिक ऋचाओं के अनुरूप

[illegible] (दार्वेतार्), दरद (दद). किरात (किरात) तथा [illegible] (अन्यानि किरातादीनि) अभिप्रेत है। ईरानी की अपनी प्राचीन भाषा की विशेष जानकारी हमें नहीं है। ईरान के पश्चिमी भाग की प्राचीन भाषा मीदी थी। यह भाषा अवेस्ता के कुछ बाद की है। हखामनी (६० पू० ५५० से ३३० तक) आदि ऐतिहासिक शासकों के शिलालेखों में इसका स्वरूप सुरक्षित है। अवेस्ता से इसका साम्य अधिक है। इस शाखा में भी यह अधिक निकट है। आधुनिक फारसी हिन्दी की भाँति विभक्तिहीन या परिवर्तित हो गई है। इसमें विदेशी का साहचर्य अधिक है। अनेक विदेशी शब्दों का प्रभाव भी इस पर पड़ा है। अरबी, तुर्की इसी कुल में आती है।

वैदिक और लौकिक संस्कृत—इन दोनों भाषाओं के लिए संस्कृत शब्द का प्रयोग होता है। वैदिक भाषा को 'वैदिकी', 'छन्दस्' या प्राचीन संस्कृत भी कहते हैं। ऋग्वेद संहिता में प्राचीनतम संस्कृत का रूप प्राप्त होता और वह भी प्रथम और दसवें मण्डल को छोड़कर। ये दोनों मण्डल बाद की रचना हैं। इसी भाषा का रूप अवेस्ता के अधिक निकट है। अन्य वैदिक साहित्य में अन्य संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक तथा प्राचीन उपनिषद् सम्मिलित हैं, परन्तु ये सब ऋग्वेद के बाद की कृतियाँ हैं, और प्रो० मैक्ये के मतानुसार इनका रचना-काल भारत के मध्य देश पहुँचने पर है। पूर्व में आर्य लगभग ८००, ९०० ई० पू० पहुँचे थे। उस समय भी वैदिक साहित्य की रचना हो रही थी। यह उस समय की बोल-चाल की भाषा का साहित्यिक रूप है। आगे चलकर यही वैदिक संस्कृत लौकिक संस्कृत में पल्लवित हो गई थी। पाँचवीं शताब्दी पूर्व इस संस्कृत के साहित्यिक और बोल-चाल के दोनों ही रूप प्रचलित थे। ये बोल-चाल रूप-स्वरूपों से अनेक भौगोलिक बोलियाँ पैदा हुईं, जो आगे विभिन्न प्राकृतों, अपभ्रंशों तथा आधुनिक आर्य-भाषाओं के जन्म का कारण बनीं। आगे प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि मुनि ने इसका संस्करण व्याकरण के सूत्रों में बद्ध किया। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत को बोल-चाल की भाषा नहीं माना है, परन्तु डा० भंडारकर और डा० गुणे ने इस मत का खण्डन किया और अनेक तर्कों से इसे बोल-चाल की भाषा सिद्ध किया। संस्कृत का

य में प्रयोग रामायण-काल से लेकर मुगल-काल तक रहा। इस भाषा णित शब्द समीपवर्ती देशों की भाषा, तिब्बती, चीनी, जापानी आदि में हित हो गये। संस्कृत का साहित्य विश्व के सर्वाधिक समृद्ध साहित्यों में एक है। इसने अनेक भाषाओं को अनेक दृष्टियों से प्रभावित किया है।

संस्कृत और अवेस्ता में साम्य—आर्य-भाषाओं में एक प्रकार से अनुरूपता व्याकरण की दृष्टि से अत्यन्त सान्निध्य की भावना दिखती है, जो इसे शाखाओं से पृथक् करती है। दोनों भाषाओं का तुलनात्मक साम्य निम्न बिन्दुओं से देखा जा सकता है।

(१) स्वरात्मकता की दृष्टि से आर्य शाखा की इन दोनों भाषाओं— त और अवेस्ता में प्राचीन भारोपीय ऐ, ओ, अ का भेद नहीं रहा है। त भारोपीय मूल स्वर ●अ, ●ऐ और ●ओ (ह्रस्व या दीर्घ) आर्य- ओं में 'अ' (ह्रस्व या दीर्घ) संस्कृत अ या आ हो जाते हैं, परन्तु ग्रीक में इनका भेद बना रहा है। उदाहरणार्थ—

भारोपीय	संस्कृत अवेस्ता	ग्रीक	लैटिन
नाग (ne'bhos),	नभस, नबह	नेफोस (nephos),	नेबुला (nebula)
ास्थ (osth),	अस्थि,	ओस्त (ast),	ओस्तेओन (oste'on), os
पो (apo),	आपस्, अप	एपो (apo)	—
एक्वोस (ekwos)	अश्व, अस्पो (aspo),	हेप्पोस (heppos),	ऐक्वस् (equus)

(२) भारोपीय उदात्तीय स्वर अ (स्वा a) दोनों शाखाओं में 'इ' हो ा है। परन्तु यह विकार अधिकतर दीर्घ अर्थात् दीर्घ स्वर ए, ओ, आ के ृति अलग रूप में आर्य वर्ग में 'अ' के स्थान पर इ का प्रयोग है। यथा—

भारोपीय	सं०	अवे०	दी०	ले०
पते (pate)	पिता	पिता	पातर (pater)	पतर
धे (dhe) धातु से हित			देवस् (theos)	

(३) संस्कृत, अवेस्ता में 'र' (र्) और 'ल' (ल्) कुछ अपवादों के अतिरिक्त विनिमय हो जाती है। भारोपीय भाषा में इन दोनों के अतिरिक्त अन्य कई वर

(रवयोरभेद.)। जैसे—

भारोपीय	सं०	अव०	ग्री०
●उल्वोस् (ulquos)	वृकः	वहरी (vahrko)	लुकोस् (luk
			लुपुस् (lupu
●रंक (runc)	सुञ्चामि—	ओरुसो (orusso)	रुनकरे (ru
●Leighmi	रेह्मि (वै० स०)—	leicho	लिगो (lig
	लेह्मि (लौ० स०)		

संस्कृत में लृ पर आधारित एक धातु लृप् उपलब्ध होती है।

(४) संस्कृत और अवेस्ता दोनों में ही भारोपीय मूल स् ध्वनि तथा कण्ठ्य ध्वनियों के परे क्रमशः ष् और श् में परिवर्तित हो ग उदाहरणार्थ—

भा०	सं०	अवे०
◎स्थिस्थामि	तिष्ठामि	हिस्तैति
◎जिउस्टर	जोष्टा	ज़ ओ शो (zao sa)

(५) दोनों भाषाओं में षष्ठी बहुवचनान्त 'नाम्' प्रत्यय का प्रयोग है। यथा—

संस्कृत	अवेस्ता
मर्त्यानाम्	मश्यानाम् (Masyanam)
वसूनाम्	वोहुनम् (Wohunam)

(६) इन दोनों भाषाओं में आज्ञात्मक (लोट्) रूपों के लिए अन्य भ '—तु' और 'न्तु' प्रत्यय मिलते हैं, जैसे—संस्कृत के भरतु, भरन्तु म में बरतु, बर अन्तु होते हैं।

(७) मूल भारोपीय के प्रथम श्रेणी के कण्ठ्य या पुरःकण्ठ्य क् (क्य (ख्य), ग् (ग्य), घ् (घ्य) भारत-ईरानी शाखा में क्रम से श, श्ह, ज, ज़ गये। धीरे-धीरे संस्कृत में ये श्, ज्, और ह हो गये और ईरानी में स, ज़ह हो गये।

(८) मूल या भारोपीय के तृतीय श्रेणी के कण्ठ्य या कंठोष्ठ्य क (क्व (ख्व), ग् (ग्व) घ् (घ्व), आर्य शाखा में शुद्ध कण्ठ्य क, ग, घ, हो

रे इ, ए स्वर के होने पर च्, छ्, ज्, झ् हो गये।

६) संस्कृत तथा अवेस्ता में समान रूप तथा समानार्थी अनेक शब्द हैं, स्कृत ओजस् का अवेस्ता मे ओजः, अनु-अन्य, का अनुअन्य ददामि का ा आदि।

(१०) दोनो भाषाओं की रूप-रचना तथा संघटना इतनी समान है कि ता की गाथा की भाषा को कतिपय ध्वनि नियम सम्बधी परिवर्तनों के ार पर वैदिक संस्कृत के रूप मे बदला जा सकता है। उदाहरणार्थ—

अवेस्ता = संस्कृत

सूरं दामोहू शविस्तम् = शूरं धाममु शविष्ठम्। आदि।

संस्कृत तथा अवेस्ता में अन्तर—दोनों के कुछ रूपों मे अन्तर भी है।

(१) संस्कृत मे ऊष्म वर्ण है जबकि अवेस्ता मे नहीं है।

(२) भारतीय में चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्,) ध्वनियाँ हैं, जबकि ईरानी ाषा मे च् तथा ज् हैं।

(३) पाचों वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ महाप्राण वर्ण अवेस्ता मे नहीं हैं।

(४) अवेस्ता में 'ल्' के स्थान पर 'र' ध्वनि है जैसे थील:=स्तीरो।

(५) ईरानी में स्वरों का बाहुल्य है। भारतीय 'अ' 'आ' की जगह उसमें ३ स्वर हैं।

(६)

प्रश्न २६—प्राकृत क्या है? प्राकृत, पालि की भाषागत विशेषताएँ बताइये इनका सम्बन्ध संस्कृत तथा आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं से निर्धारित कीजिये।

अथवा

'संस्कृत प्राकृत भाषाओं की जननी है' इस कथन का युक्ति-युक्त उत्तर दीजिए।

पालि तथा प्राकृत दोनों ही भारतीय भाषाओं का उद्भव वैदिक संस्कृत पश्चात् होता है। सर्वप्रथम हम पालि के विषय में विवेचन करते हैं। मध्यम आर्य-भाषाओं के प्रथम युग की महत्त्वपूर्ण भाषा 'पालि' है तथा इसका समय ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी ई० पू० से पहली शती ईसवी तक माना जाता है।

पालि का नामकरण

'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। 'पालि' शब्द भाषा के लिए प्रयुक्त न होकर 'बुद्ध-वचन' के लिए प्रयोग किया गया है। इसका उल्लेख चौथी सदी के ग्रन्थ 'दीप वंस' तथा आचार्य बुद्धघोष के द्वारा किया गया है। भाषा के रूप में मागधी या मगध भाषा का व्यवहार होता था। भाषार्थ में 'पालि' का प्रयोग अति अर्वाचीन है और पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा किया गया है। 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति में कुछ प्रमुख मत उल्लेखनीय हैं। कुछ यूरोपियन विद्वानों ने प्रालि (prali) से 'पाली' की व्युत्पत्ति मानी है जिसका अर्थ पुस्तक-पृष्ठों की पंक्तियाँ है। श्री विधुशेखर भट्टाचार्य के अनुसार इसका सम्बन्ध 'पक्ति'>पन्ति पत्ति>पट्टि>पल्लि>पालि से है। भिक्षु सिद्धार्थ सं० शब्द 'पाठ' पालि>पाळि (पालि में संस्कृत 'ठ' का 'ळ' हो जाता है) से मानते हैं। इन सबका अर्थ बुद्धपाठ या बुद्ध-वचन है, बाद में यह भाषा के अर्थ में विकसित हो गया। कुछ विद्वानों के मतानुसार 'पल्लि' (गाँव की भाषा) से पालि बना है क्योंकि संस्कृत की तुलना में यह गाँव की भाषा थी। कुछ इसको 'प्राकृत' (>पाकट>पाअड>पाअल>पालि) का ही विकसित रूप मानते हैं। 'पा रालेति रक्खतीति' के अनुरूप ही बौद्ध विद्वान कोशाम्बी ने इसका सम्बन्ध – पाल्=रक्षा करना से माना है। एक मत से 'प्रालेय' या 'प्रालेयक' (पड़ोसी) से पालि का सम्बन्ध है। रजवाड़े ने 'प्रकट (पाअड>पाअल>पालि) से इसकी व्युत्पत्ति का उल्लेख किया है। डा० मैक्स-

वेलेसर ने 'पालि' को 'पाटलि (पाटली पुत्र की भाषा) से व्युत्पन्न [illegible] भिक्षु जगदीश कश्यप ने इसका विकास परियाय (सं० पर्याय) (>प्रा० पालियाय>पालि से माना है। धम्म-परियाय का प्रयोग बुद्ध-उक्ति के बौद्ध साहित्य में प्राप्त होता है।

पालि-भाषा—पालि भाषा का सम्बन्ध मागधी से जोड़ा जाता है कि बुद्ध भगवान् ने इसी भाषा में अपने उपदेश दिये थे। कुछ विद्वानों [illegible] में यह उज्जयिनी, मध्य-प्रदेश, कलिंग तथा कोसल की भाषा थी। [illegible] और गाइगर 'पालि' को तत्कालीन सम्पूर्ण देश की अन्तर्प्रान्तीय परिनिष्ठित भाषा के रूप में मानते हैं। यही कारण है कि मागधी के अतिरिक्त भाषाओं के रूप भी उपलब्ध होते हैं। मध्य-देश की समीपवर्ती बोलचाल की भाषा के रूप में इसे माना जाता है तथा अन्य बोलियों का इस पर प्रभाव हो। पालि-साहित्य में बौद्ध-दर्शन, काव्य, कथा आदि का विवरण है। [illegible] धम्मपद, अट्ठकथा, महावंश आदि ग्रंथ प्रमुख हैं। पालि ने संस्कृत, [illegible] श्याम की भाषाओं पर अपना अमित प्रभाव डाला है।

संस्कृत और पालि—संस्कृत और पालि दोनों ही भारतवर्ष की [illegible] का उद्भवस्थान वैदिक भाषा है। दोनों की ध्वनियों में पर्याप्त अन्तर [illegible] है। वैदिक ध्वनियाँ ळ्, ळ्ह् पालि में सुरक्षित हैं जब कि संस्कृत में ये [illegible] हो गईं। व्यञ्जनों में संयोग का संयोग हो जाना, (क्ष>क्ख, क्ष>क्ष, [illegible] त्र, ॠ का र हो जाना भी 'पालि' की एक विशेषता है। पालि में कुछ [illegible] ध्वनियाँ लुप्त भी हो गईं। संस्कृत ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ऐ, औ, ष, श विसर्ग [illegible] संयोग में विद्यमान उष्मध्वनियाँ ये सब ध्वनियाँ लुप्त हो गईं। [illegible] सम्प्रसारण, विसर्गीकरण, विसर्ग आदि ध्वनि-परिवर्तन की प्रवृत्ति के [illegible] 'पालि' में विशेष प्रारम्भ हो गये थे। [illegible] और [illegible] की [illegible] में विकसित हुए। कोई-कोई [illegible] [illegible]

[illegible]

प्राकृत वैयाकरण—प्राकृत के अनेक वैयाकरण हुए हैं। उनमें वररुचि का नाम सर्वप्रथम आता है। वररुचि के प्राकृत-प्रकाश को विद्वान् इस भाषा का प्रथम व्याकरण मानते हैं। इसमें बारह परिच्छेद (अध्याय) हैं। हेमचन्द्र ने भी प्राकृत का व्याकरण लिखा है, जो आठवें अध्याय के रूप में उनके सिद्धहेम-शब्दानुशासन के साथ संलग्न है। इसमें प्राकृत के विविध रूपों का विवेचन करने के लिए सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर तथा सिंहराज ने भी प्राकृत के व्याकरण लिखे हैं।

प्राकृत भाषा—प्राकृत भारत की मध्यकालीन भाषा है। अशोक के शिलालेखों की प्राकृत को अनेक विद्वान् प्राकृत कहते हैं। अशोक ने स्तम्भों और चट्टानों पर भारत के विभिन्न भागों में शासन तथा धर्म सम्बन्धी सिद्धान्त खोदे थे। उनकी लिपि में अधिक रूप में बोल-चाल के अधिक नजदीक थे। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इन अभिलेखों का बड़ा महत्त्व है। इनमें ई० पू० तीसरी सदी में प्रचलित भारत भाग की भाषा के विभिन्न रूपों का जिन्हें शाहबाजगढ़ी प्राकृत कहा जाता है परिचय मिल जाता है। विद्वानों के अनुसार इसकी पाँच बोलियाँ थीं। कहीं ल्, ळ् ण् तीनों रूप प्राप्त होते हैं और कहीं पालि की भाँति ल ही है। र्, ल्, ळ्, ण् के प्रयोग में पर्याप्त अन्तर है। इसमें रूप कम हैं। शेष पालि की भाँति है।

प्राकृतों के भेद

प्राकृतों के प्रकारों के विषय में पर्याप्त मत-भेद हैं। विद्वानों ने बीस से अधिक प्राकृतों का उल्लेख किया है, परन्तु भाषा की दृष्टि से प्रमुखतः पाँच भेद ही माने जाते हैं—(१) शौरसेनी, (२) पैशाची, (३) महाराष्ट्री, (४) अर्ध मागधी तथा (५) मागधी।

१. शौरसेनी—यह प्राकृत मथुरा या शूरसेन के निकटवर्ती प्र
बोली थी। मध्य देश की भाषा होने के कारण से इसका
और इस पर संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। संस्कृत नाटक
शौरसेनी ही है। अश्वघोष के नाटक तथा कर्पूरमंजरी इसी में लिख
जैन शौरसेनी मूल शौरसेनी से थोड़ी भिन्न है। शौरसेनी के प्र
रूप अयन्ती, आभीरी आदि हैं। दो स्वरों के मध्यवर्ती सं० 'त'
इसमें 'द' और 'थ' हो गया है; यथा गच्छति=गच्छदि, कथय=
'क्ष' का 'खख' रूप हो जाता है, जैसे—इक्षु=इक्खु। केवल परसं
प्रयोग मिलता है।

२. पैशाची—इसको ग्राम्य-भाषा या भूत भाषा भी कहते हैं।
प्रदेश उत्तर-पश्चिम काश्मीर के पास था। इसको संस्कृत तथा शौरसेनी
विकृत रूप माना जाता है। ग्रियर्सन और हार्नली इस पर दरद तथा
भाषाओं का प्रभाव मानते हैं। पैशाची निम्न स्तर के मनुष्यों की भाषा
जाती है। इसमें साहित्य बहुत कम है। इसके केकय, पांचाल, ब्राचड़ आ
अनेक भेदों का उल्लेख किया गया है। इसमें 'र' का 'ल' तथा ष के स्था
पर 'स' और 'ण' मिलता है यथा—कुमार=कुमाल, विषम=विसमो आदि।
स्वरों के मध्यवर्ती घोष स्पर्श व्यंजन अघोष हो गये हैं, जैसे—गगन=गकन।

३. महाराष्ट्री—महाराष्ट्र इस प्राकृत का मूल स्थान है। शौरसेनी की
यह उत्तरवर्ती शाखा है, ऐसा कुछ विद्वान मानते हैं। यह अति समृद्धिशाली
और परिनिष्ठित भाषा है। काव्य और साहित्य की रचना में इसका अधि-
कांश प्रयोग किया गया है। इसमें गीति, राड और महाकाव्य भी लिखे गये
हैं। कालिदास, हर्ष और हाल आदि कवियों की कृतियों के गीतों की यह भाषा
रही है। जैन महाराष्ट्री में श्वेताम्बर जैनियों के धर्मग्रन्थ लिखे गये हैं। इस
प्राकृत पर अर्द्धमागधी का प्रभाव पड़ा है। इसने दो स्वरों के मध्यवर्ती अल्प-
प्राण स्पर्श (क, त, प, द, ग आदि) लुप्त हो जाते हैं, तथा प्रावृत=पाउअ।
उसी स्थिति में महाप्राण स्पर्श तथा ऊष्म ध्वनियों (ख, ध) का 'ह' हो जाता
है, जैसे—क्रोध=कोहो, तस्य=ताह। कर्मवाच्य 'य' का 'इज्ज' हो जाता
यथा—गम्यते=गमिज्जइ।

४. अर्द्ध मागधी—इसका क्षेत्र मागधी और शौरसेनी का मध्यवर्ती प्रदेश है। यह प्राचीन कोशल के आसपास की भाषा है। नाटकों तथा जैन-साहित्य में गद्य-पद्य दोनों रूपों में इसका प्रयोग हुआ है। जैनियों ने इसे 'आर्षी' या 'आदि-भाषा' कहा है। इसका प्राचीनतम प्रयोग अश्वघोष के नाटकों में मिलता है। श, ष के स्थान पर 'स' तथा चवर्ग के स्थान पर कहीं-कहीं तवर्ग मिलता है। दन्त्य ध्वनियाँ मूर्द्धन्य हो गई हैं। यथा श्रावक=सावग, स्थित=ठिय।

५. मागधी—मागधी प्राकृत मगध के आस-पास की भाषा है। लंका में पाली को ही मागधी कहा है। इसका उद्भव शौरसेनी से माना जाता है। संस्कृत नाटकों में निम्न श्रेणी के पात्र इसका प्रयोग करते हैं। गौड़ी, शाबरी, चाण्डाली आदि इसके अनेक भेद हैं। इस प्राकृत में स, ष, के स्थान पर 'श' तथा 'र' सर्वत्र 'ल' हो जाता है, यथा, सप्त=शत्त, पुरुष=पुलिश, राजा=लाजा। स्थ' और 'र्य' के स्थान पर 'स्त' मिलता है। जैसे उपस्थित=उपस्तिद, अर्यवती=अस्तवदी।

होता है। आत्मनेपद तथा नामधातु रूपों का आधिक्य नहीं रहा। इनके लुप्त होने के कारण भाषा में सरलता का प्रवेश हो गया था। भाषा में वियोगात्मकता आ गई थी। शब्द अधिकांशतः तद्भव रूपों का बाहुल्य था तथा पद के अंत में विकार आ गया था।

अपभ्रंश भाषा—इसके अन्य नाम 'देसी', 'देश-भाषा', 'ग्रामीण भाषा', 'अपभ्रष्ट' 'अवहत्थ' तथा 'अवहंस' आदि हैं। इसका समय मध्य आर्य-भाषाओं के पश्चात् आता है। अपभ्रंश का काल लगभग ५०० ई० से १२०० ई० तक माना जाता है। इन भाषाओं का विकास प्राकृतकालीन बोलचाल की भाषा से हुआ है। और इस रूप में उसे प्राकृत और आधुनिक आर्य-भाषाओं के मध्य की कड़ी माना जा सकता है। पंडितों ने संस्कृत भाषा की तुलना में इनको अपभ्रंश की संज्ञा से सम्बोधित किया जिसका अर्थ 'बिगड़ा', भ्रष्ट या गिरा हुआ रूप है। इस भाषा का प्रारम्भ ६०० ई० के पूर्व ही हो गया था और अपभ्रंश साहित्य की १००० ई० तक रचना होती रही। कीथ के मतानुसार अपभ्रंश का सम्बन्ध आभीरों तथा गूजरों से माना है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा डा० सक्सेना परिनिष्ठित अपभ्रंश को मध्यदेशीय (शौरसेनी अपभ्रंश) मानते हैं। यद्यपि बाद में उस पर अनेक भाषा-रूपों का प्रभाव पड़ा। इन अपभ्रंश भाषाओं के भेद के विषय में अनेक विद्वानों के विभिन्न मत हैं। परन्तु यह निश्चय है कि कालान्तर में इसके अनेक भेद हो गये होंगे। अपभ्रंश प्राकृत और आधुनिक भाषाओं के बीच की कड़ी है तथा यह मानना यथार्थ से दूर नहीं कि प्राकृत की ये बोलियाँ अपभ्रंश में अनेक रूप धारण कर आधुनिक आर्य-भाषाओं में विकसित हो गईं। १४००-१२०० ई० के आस-पास उत्तरी भारत में लगभग पञ्जाबी, लहँदा, सिन्धी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, खड़ी बोली—ब्रज, अवधी-छत्तीसगढ़ी, पहाड़ी, भोजपुरी-मगही-मैथिली, उड़िया आसामी तथा बंगाली, ये तेरह रूप पर्याप्त विकसित हो चले थे। निम्न-सारणी इन भाषा-रूपों का अपभ्रंश भाषाओं से सम्बन्ध स्थिर करती है—

अपभ्रंश	उससे निकलने वाली आधुनिक भाषाएँ
१. शौरसेनी	(क) पश्चिमी हिन्दी (१)

(ग) इस अपभ्रंश के नागर रूप से
(अ) राजस्थानी (२)
(ब) गुजराती (३)

८. पैशाची
(क) लहँदा (४)
(ख) पंजाबी (इस पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव है।) (५)

९. ब्राचड़ — सिन्धी (६)

४. खस — पहाड़ी [शौरसेनी अपभ्रंश तथा उसके नागर रूप (पुरानी राजस्थानी) का प्रभाव है।] (७)

५. महाराष्ट्री — मराठी (८)

६. अर्द्ध मागधी — पूर्वी हिन्दी (९)

७. मागधी
(क) बिहारी (१०)
(ख) बंगाली (११)
(ग) उड़िया (१२)
(घ) असमिया (१३)

अपभ्रंश से उपर्युक्त भाषाओं के उद्भव के सम्बन्ध में विद्वानों में किंचित् ही मत-भेद है।

संस्कृत प्राकृत भाषाओं की जननी है—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास मूलतः प्राकृत भाषाओं से ही हुआ है। अपभ्रंश भाषाएँ भी एक प्रकार से प्राकृत का ही परिवर्तित रूप है। पर अब से अपभ्रंश, प्राकृत, पालि, संस्कृत आदि के सम्यक् अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक संस्कृत ही भारतीय भाषाओं के क्रमिक विकास का मूल स्रोत है। वैदिक संस्कृत का सहज स्वाभाविक रूप पालि या प्राकृत का मूल रूप वैदिक युग में प्रचलित था। अतः वैदिक संस्कृत या संस्कृत ही प्राकृत के जननीत्व के पद को सुशोभित करती है। सर्वप्रथम आर्य-भाषाओं में भारत में संस्कृत ही एक परिनिष्ठित तथा आर्य-समाज की प्रचलित तथा व्यापक रूप में बोली जाने वाली भाषा थी। आर्यों के सुदूर पूर्व में पहुँचने पर पंजाब से

बाद तक भी संस्कृत भाषा में प्रान्तीय या देशीय रूप में थोड़ा सा परिवर्तन प्रारम्भ हो गया था। उन थोड़े या हीनाधिक परिवर्तन ने ही विभिन्न प्राकृत भाषाओं को जन्म दिया। प्राकृत भाषाओं से तदनन्तर अपभ्रंश तथा फिर आधुनिक आर्य-भाषाएं उद्भूत हुईं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संस्कृत की एक धारा की समस्त भारतीय भाषाएं (द्रविड़-भाषाओं को छोड़कर) पुत्री तथा प्रपौत्रियाँ हैं जो एक महान् भाषा-परिवार की रचना करती हैं।

प्रश्न २७—डा० ग्रियर्सन के भारतीय-भाषाओं के वर्गीकरण के प्रकाश पर विचार प्रकट करते हुए विभिन्न विद्वानों द्वारा किये गये वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए।

डा० ग्रियर्सन ने सर्वप्रथम आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का वर्गीकरण ऐतिहासिक दृष्टि से किया। इन्होंने यह माना कि भारत में आर्यों का आगमन कम से कम दो बार हुआ है। इस कल्पना के मतानुसार परागत आर्यों ने पूर्वागत आर्यों को पराजित कर हिमालय, गुजरात, सिन्ध, राजस्थान आदि की ओर भगा दिया और स्वयं मध्य-प्रदेश या मध्यवर्ती उत्तरी भारत में निवास करने लगे। इसी सिद्धान्त के आधार पर डा० ग्रियर्सन महोदय ने आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं को तीन उपशाखाओं में विभाजित किया—बहिरंग, अन्तरंग और मध्यवर्ती शाखा। पूर्वागत आर्यों की भाषाओं को बहिरंग तथा परागत आर्यों की भाषाओं को अन्तरंग कोटि में रखा। मध्यवर्ती प्रदेश की भाषाएँ मध्यवर्ती कहलाईं। उनका प्रथम वर्गीकरण इस प्रकार है—
१. बहिरंग उपशाखा—(क) पश्चिमोत्तरीय समुदाय (लहंदा, सिन्धी) (ख) दक्षिणी समुदाय (मराठी), (ग) पूर्वी समुदाय (१. बंगाली, २. बिहारी ३. उड़िया, तथा ४. आसामी।) २. मध्यवर्ती उपशाखा—(घ) मध्यवर्ती समुदाय (पूर्वी हिन्दी)। ३. अन्तरंग उपशाखा—(ङ) केन्द्रीय समुदाय (१ पश्चिमी हिन्दी, २ पंजाबी, ३. गुजराती, ४. भीली, ५. खानदेशी तथा ६. राजस्थानी) (च) पहाड़ी समुदाय—(१. पूर्वी पहाड़ी या नैपाली, २. केन्द्रवर्ती तथा ३. पश्चिमी पहाड़ी)

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने ग्रियर्सन के वर्गीकरण के तीनों आधारों को

१. ध्वनि

(क) ग्रियर्सन के अनुसार अन्तरंग में ऊष्म ध्वनियों का उच्चारण दन्त्य 'स' रूप में होता है किन्तु बहिरंग भाषाओं में यह 'श' (बंगाल, महाराष्ट्र) 'ख' (पूर्वी बंगाल, असम) तथा 'ह' (बंगाल तथा पश्चिमोत्तरी) हो जाता है।

आलोचना—स्वर मध्यग 'स' का 'ह' अन्तरंग भाषाओं में भी पाया जाता है, यथा सं० एकसप्तति>प० हिन्दी एकहत्तर, सं० द्वादश>बारह (प० हिन्दी), सं० करिष्यति>करिहइ (प० हि०) बहिरंग में 'स' कहीं-कहीं है, जैसे सहेंता में करेसी (करेगी)। बंगाल में 'श' मागधी प्राकृत के प्रभाव से है तथा मराठी में तालव्य ध्वनियों (इ, ई, य) के प्रभाव से। अन्तरंग गुजराती में यह 'स' भी दृष्टिगत हो जाता है; यथा—करसे (करिष्यति।

(ख) ग्रियर्सन के कथनानुसार 'स्व' ध्वनि का विकास बहिरंग में 'म्' तथा अन्तरंग में 'ह्' रूप में हुआ है। बहिरंग भाषाओं में महाप्राण ध्वनियाँ अल्पप्राण हो जाती हैं, जबकि अन्तरंग में ऐसा नहीं होता।

आलोचना—उपर्युक्त सिद्धान्त के विपरीत अनेक उदाहरण मिलते हैं। यथा—अन्तरंग में सं० जम्बुक का जामुन (प० हिन्दी) या निम्ब का नीम।

दूसरी ओर बहिरंग—(बंगला) में निम्बुक का लेबू या 'नेबू' रूप मिलता है। भगिनी का बहिन (हिन्दी) आदि अनेक उदाहरण मिलते हैं।

(ग) अन्य सिद्धान्तों में 'र' का 'ल्' या 'ड्' के स्थान पर प्रयोग वैदिक बहिरंग भाषाओं में मिलता है। बहिरंग भाषाओं में 'ड्' का 'ड्' में परिवर्तन हो जाता है।

आलोचना—'र' का 'ल' या 'ड' के लिए असमी, ब्रज, मराठी बोली आदि अन्तरंग भाषाओं में भी प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ—बर (बड़), कर (कल), बिहार (बिहाड़), भीर (भीड़)। 'ड' का 'ड' में परिवर्तन अन्तरंग में भी होता है, यथा—हिन्दी में हाँडि (हाँडि), हड (हड), हाँडा (हाँ) हाँडी (हाँडिका) आदि।

२. व्याकरण या रूप—(क) अन्दा की गति कभी अकेन्द्रवर्ती से विकेन्द्र. बाहर की ओर अभिमुख होती है और कभी इसके विपरीत विकेन्द्रवर्ती से

खण्डन—अनेक मूलभूत क्रियाओं से कर्ता के पुरुष तथा वचन का ज्ञान केवल पूर्वी बहिरंग भाषाओं में हो सकता है, पश्चिमी भाषाओं में नहीं।

३. शब्द-समूह—(क) शब्द-समूह के आधार पर ग्रियर्सन बहिरंग भाषाओं साम्य मानते हैं।

खण्डन—ये धातु या शब्द न बहिरंग में सम-रूप हैं तथा न अन्तरंग भाषा में। मराठी-बंगाली में बंगाली-हिन्दी से अधिक साम्य नहीं है।

(ख) आर्यों का पूर्वागत तथा परागत विषयक सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है। इसके विपरीत आर्यों का पहले से ही सप्तसिन्धु में निवास करना एक प्रामाणिक तथ्य माना जाता है।

इन सब आलोचनाओं के अतिरिक्त डा० चैटर्जी ने यह कहा है कि भारत के मध्यप्रदेश की भाषा सदैव से राष्ट्र-भाषा के पद को सदा सुशोभित करती रही है। आजकल पश्चिमी हिन्दी इस प्रदेश की भाषा है। 'सुदूर की और पश्चिम की भाषाओं को एक साथ नहीं रखा जा सकता। इन सबका सम्बन्ध पश्चिमी हिन्दी से है, अतः उसे ही केन्द्रीय भाषा मानना चाहिए।' अतः पश्चिमी हिन्दी को केन्द्रीय भाषा मानकर किया गया चैटर्जी का वर्गीकरण निम्न है—

१. उदीच्य (उत्तरी) वर्ग—सिंधी, लहँदा, पंजाबी।
२. प्रतीच्य (पश्चिमी) वर्ग—गुजराती, राजस्थानी।
३. मध्यदेशीय वर्ग—पश्चिमी हिन्दी।
४. प्राच्य (पूर्वी) वर्ग—पूर्वी हिन्दी, बिहारी, उड़िया, बंगाली, आसामी।
५. दक्षिणात्य (दक्षिणी) वर्ग—मराठी।

वे पहाड़ी भाषाओं को पैशाची, दरद और खस से प्रादुर्भूत मानते हैं जो एक प्रकार से राजस्थानी का रूपान्तर सा है।

ग्रियर्सन का द्वितीय वर्गीकरण—

डा० ग्रियर्सन ने डा० चैटर्जी के वर्गीकरण को देख पश्चिमी हिन्दी को केन्द्र मानकर उसका नवीन रूप यह रखा—

(क) मध्यदेशीय भाषा—पश्चिमी हिन्दी।

(ख) अन्तर्वर्ती भाषायें—(१) मध्यदेशीय (प० हिन्दी) से विशेष सन्नि-

इन्हीं बाहरी भाषाएँ—पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पूर्वी केन्द्रस्थ तथा पश्चिम
हिन्दी (?) बहिरंग भाषाओं से अधिक सम्बद्ध—पूर्वी हिन्दी।

(ग) बहिरंग भाषाएँ—(१) पश्चिमोत्तर वर्ग—लहँदा, सिन्धी। (२)
दक्षिणी वर्ग—मराठी। (३) पूर्वी वर्ग—बिहारी, उड़िया, बंगाली तथा
आसामी।

डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी का अन्य वर्गीकरण—चैटर्जी ने डा० ग्रियर्सन के
वर्गीकरण के आधार पर अन्य वर्गीकरण प्रस्तुत किया।

१. उत्तरीय पहाड़ी श्रेणी—(क) पूर्वी पहाड़ी या नेपाली। (ख) म
पहाड़ी (गढ़वाली या कुमायूँ)। (ग) पश्चिमी पहाड़ी।

२. पश्चिमोत्तरी पहाड़ी श्रेणी—(क) लहँदा या पश्चिमी हिन्दी। (ख
सिन्धी।

३. मध्यदेशीय श्रेणी—(क) हिन्दी, गोष्ठी या पश्चिमी हिन्दी (खड़ी
बोली, ब्रज, उर्दू, बाँगरू, बुन्देली, कन्नौजी)। (ख) पंजाबी या पूर्वी पंजाबी।
(ग) राजस्थानी और गुजराती।

४. पूर्व मध्य श्रेणी—कोशली या पूर्वी हिन्दी (अवधी, बघेली, छत्तीस-
गढ़ी)।

५. पूर्वी श्रेणी—आसामी, बंगला, उड़िया और बिहारी (मैथिली, मगही
और भोजपुरी)।

६. दक्षिणी श्रेणी—इसके अन्तर्गत कोंकणी और हलबी आती हैं।

डा० धीरेन्द्र वर्मा का वर्गीकरण—डा० चैटर्जी के वर्गीकरण के आधार पर
ही डा० वर्मा का स्वाभाविक वर्गीकरण इस प्रकार है।

(क) उदीच्य (उत्तरी)—१. सिंधी २. लहँदा तथा ३. पंजाबी।

(ख) प्रतीच्य (पश्चिमी)—४. गुजराती।

(ग) मध्यदेशीय—५. राजस्थानी, ६. पश्चिमी हिन्दी, ७. पूर्वी हिन्दी
तथा ८. बिहारी।

(घ) प्राच्य (पूर्वी)—९. उड़िया, १०. बंगाली तथा ११. आसामी।

(ङ) दक्षिणात्य (दक्षिणी)—१२. मराठी।

इस वर्गीकरण में हिन्दी के प्रमुख चारों रूपों को मध्यदेशीय माना है।

विज्ञान मराठा और अंग्रेजों के राजनीतिक संघर्ष के फलस्वरूप मध्यदेश की हिन्दी प्रतिष्ठित हुई। १८वीं सदी में ब्रजभाषा की शक्ति क्षीण हो चुकी थी और खड़ी बोली तथा उर्दू का प्रचार और प्रसार मुसलमानों में अधिक हो गया था। अंग्रेजों ने हिन्दी के प्रचारार्थ फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की जिसमें लल्लूलाल तथा सदलमिश्र ने 'प्रेमसागर' और 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। लल्लूलाल की रचना में ब्रजभाषा के अवशिष्ट रूप की झलक मिलती है। १९वीं सदी के उत्तरार्ध में दयानन्द सरस्वती, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी अन्य लेखकों ने खड़ी बोली हिन्दी गद्य का प्रचार किया। मुद्रण-कला के विकास के साथ ही खड़ी बोली का साहित्य में प्रयोग तीव्रगति से होने लगा तथा बीसवीं सदी में इसका प्रयोग प्रायः साहित्य की समस्त प्रणालियों तथा विधाओं में किया जाता है। आधुनिक युग में खड़ी बोली गद्य, पद्य आदि रचना के लिए व्यापकता से प्रयुक्त होती है। अब भाषा खड़ी बोली आज समस्त भारत की साम्राज्ञी है और उसके साहित्य रूपी सिंहासन में अनेक रत्न रात-दिन जड़े जा रहे हैं तथा जिसकी चमक दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ रही है।

प्रश्न २९—हिन्दी भाषा की मुख्य बोलियों के साम्य-वैषम्य पर प्रकाश डालिए।

हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है। क्षेत्र तथा जनसंख्या की दृष्टि से इसका क्षेत्र अधिक विशाल तथा व्यापक है। सूक्ष्म रूप से हम इसे मध्यदेश या अन्तर्वेद की भाषा कह सकते हैं। अतः आगरा को हिन्दी का केन्द्र मानने पर इस का क्षेत्र उत्तर में हिमालय की तराई तक, पश्चिम में दिल्ली से आगे तक दक्षिण में नर्मदा की घाटी तक तथा पूर्व में कानपुर तक माना जाता है। इस भूमि-भाग में हिन्दी के दो रूप माने जाते हैं—पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी। पश्चिमी हिन्दी का रूप ही हिन्दी नाम से प्रयुक्त हुआ है क्योंकि यह शौरसेनी का मध्यप्रदेशीय रूप है। पूर्वी हिन्दी अर्द्धमागधी की वंशज है। हिन्दी के प्राचीन साहित्य में इसी मध्यप्रदेशीय भाषा को हिन्दी कहते थे। इनमें खड़ी बोली, हरियाणवी, ब्रज, कन्नौजी, बुन्देली, पश्चिमी हिन्दी की बोलियाँ हैं। आजकल पश्चिमी हिन्दी के साथ पूर्वी हिन्दी भी समग्र रूप हिन्दी के अन्तर्गत समझी जाती है। पूर्वी हिन्दी में अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी बोलियाँ हैं। हिन्दी

देखा गया। अतः तत्कालीन भाषा का प्राचीनतम रूप चारणों
लौकिक काव्य-ग्रन्थों में मिलता है। प्रामाणिक हस्तलिपि के
प्रकार की समस्त सामग्री सदेहास्पद है। कालान्तर में भाषा में
वर्तन हो गया है। अमीर खुसरो (१२५५ से १३२५ ई०) ने भाषा
रंजन का माध्यम बनाया। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थों की भाषा फारसी है
समय में धार्मिक आन्दोलन के फलस्वरूप साहित्यिक विषयक रचना क
हो गया था। इनमें गोरखनाथ, रामानन्द तथा कबीर आदि उल्लेख
मैथिल-कोकिल विद्यापति के पद तथा कबीर आदि संतों की वाणी में
हिन्दी का रूप अवश्य लक्षित होता है।

मध्य काल—(१५०० से १८०० ई)—हिन्दी भाषा की दृष्टि से
काल का सर्वाधिक महत्त्व है और इसे स्वर्ण काल के नाम से अभिहित
जाता है। इस काल में तुर्की शासन का अन्त हो गया था तथा समस्त भा
का शासन-सूत्र प्रायः मुगलों के हाथ में था। तत्कालीन अशांति के वातावर
ने भक्ति की व्यापक नदी को सर्वत्र प्रवाहित कर दिया। इस नदी के दो प्र
किनारे अवधी और ब्रजभाषा के रूप में थे। अवधी भाषा में जायसी के पद्मा
वत' तथा तुलसी के 'रामचरितमानस' ने जन-मानस में भक्ति की एक तरंग
विलेर दी थी। १६वी शती में ब्रजभाषा ने धार्मिक तत्वों की सरक्षा अनेक
प्रकार के काव्य की सृष्टि की। सूर का सूर-सागर तथा तुलसी की विनय-
पत्रिका प्रमुख हैं। अष्टछाप के कवियों की भाषा ब्रज ही थी। धीरे धीरे यह
भाषा परिष्कृत होकर १७वी शती के समस्त हिन्दी-साहित्य का प्रायः माध्यम
थी। आधुनिक काल की खड़ी बोली हिन्दी का रूप हमें प्राचीन तथा मध्यकाल
के ग्रन्थों में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। रासो, कबीर, भूषण आदि की भाषा में
खड़ी बोली के अस्तित्व के दर्शन होते हैं। खड़ी बोली उर्दू के सर्वप्रथम कवि
वली का काल १८वी सदी है। इसके पश्चात् गालिब, इंशा, मीर, दाग आदि
कवियों ने इस भाषा को विकसित किया। इस प्रकार हिन्दी साहित्य की इस
नवीन भाषा का प्रादुर्भाव हुआ और शनैः शनैः परिनिष्ठित होकर आज राष्ट्र-
भाषा के महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित है।

आधुनिक काल—आधुनिक काल का जन्म संघर्ष और क्रांति में हुआ।

गई है।

कन्नौजी—वास्तव में यह ब्रजभाषा का एक उपरूप है। इसके वर्तमान स्थान ... हैं। इन दोनों का क्षेत्र अवधी और ब्रज के मध्य में है। इसका केन्द्र फर्रुखाबाद है। उत्तर में हरदोई, शाहजहाँपुर तथा पीलीभीत तक और दक्षिण में इटावा तथा कानपुर तक इसका क्षेत्र है। इस भूभाग के कवियों ने साहित्य रचना ब्रजभाषा में ही की है। अतः इस बोली में साहित्य रचना नहीं हो सकी है।

बुंदेली—बुंदेली और ब्रजभाषा में घनिष्ठ संबंध है, केवल दोनों के प्रादेशिक भेदों में अंतर है। यह बुंदेलखंड की बोली है। इसका विस्तार झाँसी, हमीरपुर, जालौन, ग्वालियर, भूपाल, ओरछा, सागर, सिवनी तथा होशंगाबाद तक है। मध्यकाल में बुंदेलखंड साहित्यिक रचना का केंद्र रहा है पर यहाँ के स्थानीय कवियों ने बुंदेली से प्रभावित ब्रजभाषा में ही कविता की है। अतः इसमें थोड़ा बहुत साहित्य उपलब्ध होता है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग सत्तर लाख है।

अवधी—हरदोई जिले को छोड़कर प्रायः समस्त अवध की बोली अवधी ही है। यह लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, खीरी, फैजाबाद, बहराइच, प्रतापगढ़, बाराबंकी तथा सुल्तानपुर में शुद्ध रूप में बोली जाती है। इलाहाबाद फतेहपुर तथा मिर्जापुर में थोड़े बहुत अन्तर से अवधी ही बोली जाती है। बिहार के मुसलमान भी बोलचाल में अवधी का ही प्रयोग करते हैं। तुलसीदास जी का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रामचरितमानस' इसी भाषा में लिखा गया है जिस पर संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव है। जायसी के 'पद्मावत' की भाषा शुद्ध रूप में अवधी है। ब्रजभाषा के सदृश अवधी भाषा अधिक दिन न टिक सकी। इसके बोलने वालों की संख्या डेढ़ करोड़ है।

बघेली—यह अवधी का ही एक उपरूप है। अवधी से पृथक् इसका कोई अन्य रूप नहीं कहा जा सकता है। इसका क्षेत्र अवधी के दक्षिण में है। इस का केन्द्र रीवाँ राज्य है। रीवाँ के राज्याश्रित कवि ब्रजभाषा को ही साहित्यिक भाषा मानकर उसी में कविता किया करते थे। यह मध्य प्रांत के दमोह, जबलपुर, मांडला तथा बालाघाट के जिलों तक विस्तृत है। इसके बोलने वालों

भाषा का साहित्यिक रूप, खड़ी बोली, ब्रज और अवधी है तथा अन्य सभी बोलियाँ हैं, क्योंकि बुन्देली को छोड़कर अन्य बोलियों में साहित्य नहीं के बराबर है।

खड़ी बोली—यह पश्चिमी रुहेलखंड, गंगा के उत्तरी दोआब तथा अम्बाला जिले की बोली है। अधिकांशतः यह दिल्ली-मेरठ प्रदेश या उसके आसपास प्रांत में बोली जाती है। मुसलमानों के अधिक सम्पर्क के कारण शायद इस बोली में अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों की संख्या हिन्दी की अन्य बोलियों की अपेक्षा अधिक है परन्तु इनका व्यवहार अर्द्धतत्सम रूप तद्भव रूपों में पाया जाता है। तत्सम शब्दों के बाहुल्य से इसका दूसरा नाम उर्दू कहा जाता है। आरम्भ में यह निरी गँवारू बोली थी, पर साहित्य क्षेत्र में प्रयुक्त होकर इसका रूप निखर गया है। साहित्यिक हिन्दी में आज अधिकांश शब्दावली का प्राधान्य पाया जाता है। अपने मूल रूप में खड़ी बोली रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून, अम्बाला तथा पटियाला रियासत के पूर्वी भाग में बोली जाती है। इसके बोलने वाले प्रायः साठ लाख के लगभग है। सरहिन्दी इसका दूसरा नाम है।

बाँगरू—यह खड़ी बोली का ही उपरूप है। यह दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार, नाभा और पेप्सू के कुछ गाँवों में बोली जाती है। हिसार, जींद, पानीपत और कुरुक्षेत्र बाँगरू की सीमा के अन्तर्गत है। एक दृष्टि से यह पंजाबी और राजस्थानी का मिश्रित रूप है। इसका अन्य नाम जाटू का हिन्दुस्तानी भी है। बाँगरू बोली के लोकगीत अधिक प्रसिद्ध है। इसमें ग्रंथ साहित्य का अभाव है। यह बोली उच्चारण में कठोर तथा कटु है।

ब्रजभाषा—हिन्दी के मध्यकाल में ब्रजभाषा सर्वाधिक प्रचलित तथा समृद्ध भाषा थी। उसमें सुन्दर और समृद्ध साहित्य के सर्जन अधिकतर और विशेषकर मध्यकाल में हुआ है। अतः विद्वानों ने यह एक प्रमुख साहित्यिक भाषा रही है। हिन्दी में इसका स्थान आजकल खड़ी बोली ने ले लिया है। मुख्य रूप से यह मथुरा, आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुर में बोली जाती है। कुछ इसकी और बोलियों को लेकर इसने खड़ी बोली हिन्दी और बुन्देली को छोड़कर [illegible] इसका मुहावरा, [illegible] रूप राजस्थानी की अपेक्षा भिन्न है। ब्रजभाषा [illegible]

न्दी का क्षेत्र पूर्व में इलाहाबाद, पश्चिम मे हिसार, उत्तर में कुमायूँ, गढ़वाल
ा नेपाल की तराई तथा दक्षिण में रायपुर तक समझा जाता है। शब्दार्थ
ः व्युत्पत्ति की दृष्टि से हिन्दी शब्द का प्रयोग हिन्द या भारत में बोली जाने
ली किसी भी आर्य अथवा अनार्य (द्रविड़ या अन्य कुल) की भाषाओं के
ए हो सकता है। साधारणतः इसका उपयोग मध्यदेश या अन्तर्वेद की भाषाओं
अर्थ में होता है। इस विशिष्ट भूखण्ड मे भारतीयों के आधुनिक साहित्य,
र-पत्रिकाएँ, शिष्ट बोलचाल तथा स्कूल की शिक्षा एकमात्र हिन्दी भाषा
ही होती है। हिन्दी की ग्रामीण बोलियाँ मारवाड़ी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी, मैथिली
िगर, बुन्देली तथा बघेली तथा साहित्यिक भाषाएँ ब्रज, अवधी तथा खड़ी
ली हैं। पुरातन साहित्य के कारण ब्रज और अवधी का अत्यधिक महत्व है
या आजकल खड़ी बोली का वाङ्मय अति विस्तृत तथा विकसित हो गया
। कुछ विद्वान् हिन्दी को विभाषा के रूप में बिहारी तथा राजस्थानी बोलियों
ो समझते हैं। आधुनिक खड़ी बोली के साहित्य पर संस्कृत शब्द-समूह का
शेष प्रभाव है। कुछ लोग भ्रमवश हिन्दुओं की भाषा को हिन्दी समझने
गे हैं पर यथार्थतः यह उपर्युक्त भूमि-भाग के प्रत्येक भारतीय की भाषा है।
ाषा-शास्त्रीय दृष्टि से पश्चिमी हिन्दी तथा पूर्वी हिन्दी का कुछ अंश ही
हिन्दी भाषा समझा जाता है।

उर्दू—उर्दू का अर्थ 'लश्कर' या 'फौजी छावनी' है। फौज मे विभिन्न
ाषा-भाषी युवक अपनी-अपनी विशिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं। वास्तव में
स प्रकार से एक मिश्रित भाषा या खिचड़ी भाषा बन जाती है। यही लश्कर
ाषान उर्दू है। कुछ लोग उर्दू को बाजारू भाषा के अर्थ मे लेते हैं। भारत मे
ुसलमानो के शासक रूप में स्थिर हो जाने पर मुसलमानों का केन्द्र दिल्ली
हा। अतः फारसी, तुर्की और अरबी के बोलने वाले मुसलमानों ने जन-सम्पर्क
ःथापित करने के लिए धीरे-धीरे दिल्ली के आस-पास की बोलियों को
ीखा। फलतः उन बोलियो मे विदेशी शब्द-समूह भी शनैः शनैः घुलमिल
ये। इस प्रकार सर्वप्रथम उर्दू खड़ी बोली का व्यवहार प्रारम्भ हो गया क्योंकि उर्दू का मूलाधार दिल्ली के निकट की खड़ी बोली है। इसी बोली ने
ीरे-धीरे साहित्यिक रूप ग्रहण किया जो आज साहित्यिक खड़ी बोली के नाम

की संख्या लगभग एकसठ लाख है।

मगही—यह प्राचीन मगध की बोली है। इसमें साहित्य क
है। कुछ नई किताबें हो प्रकाशित होती हैं। यह गया, जा
जिलापुर के जिलों तथा कॉलेज, मानभूम, सिंहभूम, कोल
उड़ीसा आदि राज्यों में विभिन्न रूपों में प्रचलित है। इसकी
मगहाही भी कहते हैं। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग पा

भोजपुरी - यह प्राचीन काशी जनपद की बोली है। यह बो
मिर्जापुर, आजमगढ़, गाजीपुर, गोरखपुर, बलरामपुर, इलाहाबाद में
है। भोजपुरी हिन्दी के अधिक निकट है। इस पर बिहारी भाषा
है। इसमें विकसित साहित्य नहीं है। काशी संस्कृत के साथ हिन्दी
भी रहा है तथा यहाँ के कवियों ने हिन्दी साहित्य की यथेष्ट समृद्धि

इन भाषाओं और बोलियों के अतिरिक्त राजस्थानी और बिहारी
हिन्दी से निकट का संबंध है और इन भाषाओं को भी हिन्दी के अन्तर्ग
जा सकता है। हिन्दी की विभिन्न बोलियों में विषमता का मुख्य कारण
रण-भेद है। कुछ बोलियों के उच्चारण में प्राचीनता की स्पष्ट झलक
है। बांगरू और बघेली अधिक कर्णकटु और सट्ठमार हैं।

प्रश्न १०—हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के अन्तर को स्पष्ट करते
उनके सामंजस्य की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए।

हिन्दी के साहित्यिक दृष्टि से तीन रूप हैं—१. हिन्दी, २. उर्दू तथा
हिन्दुस्तानी। हिन्दी के विभिन्न रूप शब्द-भाण्डार, वाक्य-रचना तथा विदे
प्रभाव के कारण हुये हैं।

हिन्दी—हिन्दी शब्द की व्युत्पत्ति के साथ ही दो समान रूप शब्दों का
प्रयोग और किया जाता है—हिन्द और हिन्दू। ये दोनों ही फारसी शब्द
रूप संस्कृत के सिन्धी, सिन्ध तथा सिन्धु के ही रूपांतर हैं परंतु इनके अर्थों
में भी पर्याप्त भेद पाया जाता है। कुछ विदेशी मनुष्य हिन्द या भारत की
भाषा को हिन्दी समझते हैं, यथार्थतः ऐसा नहीं है। हिन्दी भारत के एक
सीमित प्रदेश की भाषा है, न कि संपूर्ण भारत की। व्यवहार की दृष्टि से

उसका हिन्दुस्तानी का प्रतिपादन किया था। गांधी जी तथा अन्य कांग्रेसी नेता इस हिन्दुस्तानी भाषा के प्रचार के पक्ष में रहे हैं। अब हिन्दी और उर्दू दोनों ही लिपियों में प्रयुक्त होती है। किन्तु स्वतन्त्र भारत में हिन्दी के राष्ट्रभाषा पद पर आसीन हो जाने के कारण यह शब्द ही लुप्त होती जा रही है।

हिन्दी, उर्दू दोनों ही अपनी बोली के साहित्यिक रूप हैं तथा हिन्दुस्तानी का प्रयोग बोल-चाल के लिए उचित होता है। हिन्दी के राष्ट्र-भाषा पद पर आसीन होने के लिए स्वतन्त्र भारत में इसके प्रचार तथा प्रसार के लिए इसके स्वरूप तथा सर्वसम्मत रूप पर उचित ध्यान देने की आवश्यकता है। हिन्दी और उर्दू दोनों का ही क्षेत्र भारत है, कोई विदेशी भू-भाग नहीं। अतः इन दोनों भाषाओं के समानान्तर विकास से ही राष्ट्र-भाषा के स्वरूप रूप की कल्पना की जा सकती है तथा वही रूप सर्वमान्य तथा सर्वग्राह्य हो सकता है। हिन्दी में उर्दू तथा अनेक विदेशी या देशी भाषाओं के प्रचलित शब्दों को स्थान देने से इसका सर्वांगीण विकास तथा प्रचलन सम्भव है। यही समन्वित रूप राष्ट्र-भाषा के उत्तरदायी पद को निबाहने में सक्षम हो सकता है।

प्रश्न ११—ऐतिहासिक उद्गम की दृष्टि से हिन्दी शब्द-समूह किन मुख्य वर्गों में विभक्त किया जाता है? हिन्दी में प्रयुक्त अंग्रेजी शब्दों में होने वाले ध्वनि-परिवर्तनों के मुख्य सिद्धान्त भी उदाहरण सहित दीजिए।

भाषा शब्द समूह का ही क्रमबद्ध तथा संगठित रूप है। यह समाज-सापेक्ष वस्तु है। जन-सम्पर्क से परस्पर विचार विनिमय से भाषा में परिवर्तन आ जाता है तथा अन्य भाषा-भाषी वक्ता का प्रभाव भी उस पर पड़ता है। यही कारण है कि एक भाषा पर विदेशी तथा प्रान्तीय शब्द समूह का प्रभाव स्वभावतः पड़ता है। यही बात हिन्दी शब्द-समूह पर भी लागू होती है। अन्य समस्त भाषाओं की भाँति हिन्दी भाषा के शब्द-समूह में भी अनेक जीवित तथा मृत भाषाओं के शब्द मिलते हैं, ऐतिहासिक उद्गम की दृष्टि से हिन्दी शब्द-समूह को तीन मुख्य वर्गों में विभाजित किया जाता है—

१. भारतीय आर्य-भाषाओं का शब्द-समूह।

से पुकारी जाती है। अतः जन्म से उर्दू और आधुनिक साहित्यिक
बहनें हैं। विकसित होने पर दोनों के मूल रूपों में अन्तर आ गया।
दोनों के व्याकरण रूपों में कम ही अन्तर है किन्तु साहित्यिक
शब्द-समूह तथा लिपि में महान् अन्तर है। वास्तव में उर्दू भाषा के
खड़ी बोली हिन्दी में है, पर शब्द-समूह में अरबी-फारसी शब्दों का
उसके व्याकरण और काव्य-पद्धति पर फारसी का प्रचुर प्रभाव है
तद्भव तथा देशज शब्दों की संख्या भी कम नहीं है। हिन्दी और उर्
मौलिक अन्तर है कि हिन्दी पर प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा उस
का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है जबकि उर्दू का उद्भव और विकास भारत के
में होते हुए भी अरब की सभ्यता और साहित्य से उसने
किया है। उर्दू का साहित्यिक रूप मुसलमानी दरबार में आरम्भ हुआ
शाही दरबार से सम्बन्धित हिन्दुओं ने भी इसे अपना लिया। दक्षिणी
कवियों की भाषा उर्दू ही थी। इसे दक्षिणी उर्दू भी कहते हैं। दक्षिण
की उर्दू के प्रथम कवि माने जाते हैं। आगरा और दिल्ली की ओर इसका
अधिक प्रचार है। अब भी यह उत्तर भारत की सिख्ड पुरानी
पुरानी भाषा है। दूसरे शब्दों में उर्दू आधुनिक साहित्यिक हिन्दी के
दूसरे साहित्यिक रूप का नाम है जिसका दरबार उत्तर भारत के
मुसलमान तथा कई दक्षिण राज्यों में दरबारों के कुछ हिन्दुओं ने
कारीगरी तथा पुरानी पीढ़ी के कायस्थों में
हिन्दी और उर्दू को
हिन्दुस्तानी - इस
हिन्दी और उर्दू

हिन्दी में कम है। खटखटाना, चमकाना आदि कुछ ऐसे भी शब्द हैं जो तत्सम कहे जा सकते हैं पर वास्तव में हैं नहीं।

तत्समाभास—कुछ शब्द संस्कृतज्ञों के गढ़े चले आ रहे हैं और तत्सम समान प्रतीत होते हैं। जैसे—राष्ट्रीय, पौराणिक, उन्नायक, त्राण, प्रण आदि।

अर्धतद्भव या तद्भवाभास—हिन्दी शब्द-समूह में कुछ ऐसे भी शब्द हैं जो लिंग-परिवर्तन में सादृश्य के अनुसार बना लिए गए हैं। जैसे—मौसी का पुल्लिंग मौसा। यह तद्भव का ही रूपान्तर मात्र है। अन्य उदाहरण दुलहिन आदि हैं।

प्रतिध्वन्यात्मक—कभी-कभी किसी शब्द के सादृश्य या सम्बन्ध बोध करने के लिए तथा प्रभाव डालने के लिए आवृत्ति कर दी जाती है; यथा—लोटा-ओटा, रोटी-फोटी आदि।

द्विज शब्द—हिन्दी में अनेक ऐसे शब्द हैं जो दो भाषाओं के शब्दों में समास करने पर बने हैं। उदाहरण—सरदार, काटना, रेलगाड़ी, अजायबघर।

हिन्दी शब्द-समूह पर अन्य आधुनिक आर्य-भाषाओं का भी प्रभाव पड़ा है और उन प्रान्तीय भाषाओं के शब्द यथा स्थान हिन्दी में प्रवेश पा गये हैं।

उदाहरणार्थ—मराठी—प्रगति, लागू, चालू, बाबू। गुजराती—पड़ताल आदि।

२. भारतीय अनार्य-भाषाओं से आगत शब्द—हिन्दी के तत्सम तथा तद्भव शब्दों में कुछ रूप ऐसे हैं जो प्राचीन काल में अनार्य-भाषाओं से आर्य-भाषाओं में आ गए थे। जिन प्राकृत शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत शब्दों से नहीं हो पाती है उनको भी हम अनार्य-भाषाओं से आए मान लेते हैं और ऐसे अनेक शब्द द्रविड तामिल, तेलुगु, कोल आदि अन्य भाषाओं में उपलब्ध होते हैं। ऐसे शब्दों की मात्रा हिंदी में न्यूनतम है। द्रविड भाषाओं से आए शब्दों का अर्थ हिंदी में बहुत कुछ बदल गया है। पुरबाची द्राविड 'पिल्ले' हिंदी में 'पिल्ला' होकर कुत्ते के बच्चे का अर्थ देता है। हिंदी में मूर्धन्य वर्णों (टवर्ग) का आगमन द्रविड भाषाओं के प्रभाव के कारण है। हिंदी का दमदावाकर 'कोरी' शब्द कोल भाषाओं से आया है।

३. विदेशी भाषाओं के शब्द—ये शब्द भारत में विदेशी शासन के फल-

१. विदेशी भाषाओं के शब्द।

१. भारतीय आर्य-भाषाओं का शब्द-समूह—हिन्दी शब्द-समूह पर मु
तर भारतीय आर्य-भाषाओं का प्रभाव है। इसके पूर्व-विश्लेषण पर वि
निम्न शब्दों की उद्भावना करते हैं, संस्कृत या प्राकृत भाषाओं के त
शब्द, देशज शब्द, अनुकरणात्मक शब्द, तत्समाभास, अर्धतद्भव या तद्भवा
प्रतिध्वन्यात्मक तथा द्विज शब्द।

संस्कृत या प्राकृत भाषाओं के आगम शब्दों के तीन रूप हैं—त
अर्द्ध-तत्सम तथा तद्भव शब्द। हिन्दी भाषा का विकास प्राचीन भार
आर्य-भाषाओं से हुआ है। प्राचीन आर्य-भाषाओं में प्रायः संस्कृत, प्राकृत
अपभ्रंश भाषाओं की गणना होती है। संस्कृत भाषा ही इन सब की मूल
जननी भाषा है। अतः संस्कृत के मूल रूपों को तत्सम=उसके (संस्कृत)
रूप कहा गया है। इन तत्सम शब्दों की प्रचुरता हमें साहित्यिक हिन्दी प्रमु
आधुनिक हिन्दी में दिखाई देती है। तत्सम तथा संस्कृत के विशुद्ध रूपों
व्यवहार में विद्वता प्रदर्शन करने की आकांक्षा ही मूल कारण है। अर्द्धत
रूप वे हैं जो अपने तत्सम रूप में यत्किंचित् प्रयोग के कारण आधुनिक यु
प्रायः विकृत हो गये हैं। उदाहरणार्थ—कृष्ण का किशन तथा अग्नि का अ
आदि। अर्द्धतत्सम में तत्सम का रूप स्पष्टतः लक्षित होता है। हिन्दी के त
समूह अधिकांश रूप में तद्भव शब्दों से परिपूर्ण हैं। इन हिन्दी तद्भव
का उदय क्रमशः प्राकृतों के माध्यम से शौरसेनी तथा अर्द्धमा
हुआ है। प्राकृतों की उपलब्धि वैदिक संस्कृत के शब्द-रूपों
रूपों का बाहुल्य है। ये प्रायः प्राकृत तथा अपभ्र
आदि ध्वनि-परिवर्तनों के नियमानुसार विकृत
सर्प से साँप, कार्य से काज, कृष्ण से कान्हा आदि

[illegible] हो जाता है, जैसे ड़ से द—डिसम्बर, [illegible] (...) आदि । कहने का तात्पर्य यह है कि अंग्रेजी [illegible] । इस प्रकार की हिंदी [illegible] हैं । जैसे पुर्तगाली—[illegible] आदि ।

[illegible] तथा [illegible]—[illegible] आदि [illegible] हिन्दी के [illegible] में दृष्टिगोचर होते हैं ।

प्रश्न १८—भिन्न भिन्न [illegible] हिन्दी संज्ञाओं के मूल रूप (Direct or Nominative Form) तथा विकृत रूप (Oblique Form) दीजिए तथा इन रूपों की व्युत्पत्ति पर टिप्पणी लिखिए ।

अथवा

संज्ञा में ध्वनि-परिवर्तन को सोदाहरण समझाइए ।

हिन्दी में भिन्न-भिन्न कारकों की संज्ञाओं के पृथक्-पृथक् रूप मिलते हैं । हिन्दी विभक्तियों की रचना संज्ञाओं में कारक-चिन्हों के संयोग से होती है । जिस प्रकार संस्कृत में विभक्ति संख्या आठ है और प्रत्येक विभक्त में तीन-वचनों में क्रम से एक संज्ञा के चौबीस रूप बन जाते हैं इसी प्रकार हिन्दी में भी कारकों की संख्या आठ है और एक वचन तथा बहुवचन मिलते हैं जब कि द्विवचन प्रायः समाप्त हो गया है । भिन्न भिन्न कारकों के एकवचन तथा बहुवचन में भी संख्या में चार से अधिक रूप में मिलते हैं । लिंग-भेद से भी रूपों के स्वरूप में अन्तर पड़ जाता है । इस प्रकार संज्ञाओं के रूपों में अन्त वचन तथा लिङ्ग-भेद के अनुसार अनेक रूपान्तर प्राप्त होते हैं । उनमें कारक चिन्हों के जोड़ कर (तथा कभी-कभी कारक-चिन्हों का लोप भी हो जाता है) भिन्न-भिन्न विभक्तियों के रूपों की रचना की जाती है । उदाहरण के लिए 'श्याम' संज्ञा के सरल तथा के तुलनात्मक रूप दिये जाते हैं—

रबका हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं में प्रवेश पा गये हैं। भारत पर मुसलमान और अंग्रेजों के शीर्षकालीन शासन के कारण दो प्रकार का प्रभाव हिन्दी भाषा पर पड़ा है—(क) मुसलमानी प्रभाव तथा (ख) योरोपीय प्रभाव।

मुसलमानी प्रभाव—हिन्दी के शब्द-भाण्डार पर मुसलमानों की भाषाओं का साहित्यिक तथा सामीन (योरपीय) दोनों ही क्षेत्रों में अधिक प्रभाव पड़ा है। मुसलमानों की अरबी, फारसी और तुर्की के अनेक शब्द हिन्दी भाषा में आ गए हैं। अरब और तुर्की भाषा के जो शब्द हिन्दी में उपलब्ध हैं वे फारसी से होकर ही हिन्दी में आए हैं। फारसी शासकों की दरबारी तथा साहित्यिक भाषा थी। अतः इनका तत्कालीन हिन्दी भाषा पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उदाहरणार्थ—अरबी—इस्तेहान, औरत। फारसी—आदा ज्यादी, दुकान। तुर्की—तोप, लाश आदि। ये मुसलमानी शब्द आ पर्यंत, लोप सम्बन्धी नियमों के सहारे रूपान्तरित होकर हिन्दी में घुल-मिल गए कि ये शब्द सहसा विदेशी प्रतीत नहीं होते। जैसे मर्द से म मानत से अनामत, साहित्य आदि।

योरोपीय प्रभाव—समस्त भारत पर शताब्दियों तक अंग्रेजी शास कारण अंग्रेजी भाषा के असंख्य शब्द हिन्दी में इस प्रकार मिल गये हैं कि व किंचित् भी विदेशी नहीं प्रतीत होते। जैसे—टाइम, कोट, कांग्रेस, मिनट, रबर, मशीन, ट्रक, वारन्ट, सोडावाटर आदि। अंग्रेजी शब्द भी तत्सम तथा तद्भव दोनों ही रूपों में हिन्दी में आये हैं पर अधिकांश शब्द तद्भव ही है। तत्सम रूप के निम्न उदाहरण दिये जा सकते हैं यथा—इंच, फुट, बोर्ड, बटन आदि। तद्भव शब्दों का रूप आगम, विपर्यय, लोप आदि ध्वनि-परिवर्तन के अनुसार तत्सम रूपों से विकृत होकर हिन्दी में गृहीत हुआ है क्योंकि विदेशी शब्दों तथा ध्वनियों को भारतीय रूप में उच्चारण की सुविधा के अनुसार ढाल कर परिवर्तित कर दिया गया है। उदाहरणार्थ—

आगम—Sample—सैम्पुल, Recruite रंगरूट, Dozen = दर्जन।

विपर्यय—Desk = डेस्क।

लोप—Report = रपट, Lantern—लालटेन, Quinine = कुनैन।]

कभी-कभी अंग्रेजी से हिन्दी में शब्द ध्वनि-परिवर्तन होकर आ गये हैं। स्वर

रूप	एकवचन	बहुवचन
पुं० घोड़ा—मूल रूप (कर्त्ता)	घोड़ा	घोड़े
विकृत रूप (अन्य कारक)	घोड़े	घोड़े
स्त्री० लड़की—मू० रू० (कर्ता)	लड़की	लड़की, लड़कियाँ
वि० रू० (अन्य कारक)	लड़की	लड़कियों इत्यादि

कुछ आकारान्त एक वचन शब्दों में भी कर्त्ता के अतिरिक्त अन्य कारकों में एकारान्त विकृत रूप उपलब्ध होता है जैसे ऊपर कर्त्ता एकव० 'घोड़ा' अन्य कारक में एकारान्त एकव० 'घोड़े' रूप में परिवर्तित हो गया है। इन विकृत रूपों के विषय में यह मत है कि ये संस्कृत की भिन्न-भिन्न विभक्तियों के एक वचन रूपों का अवशेष मात्र हैं।

प्रायः यह देखा जाता है कि हिन्दी संज्ञाओं के मूल तथा विकृत रूपों में 'ओं' लगाने से पूर्व ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों में 'इ' और 'ऊ' के स्थानों पर क्रमशः 'इ' और उ' कर दिया जाता है। स्त्रीलिंग के अन्त्य रूपों में इकारान्त या ईकारान्त तथा ऊकारान्त संज्ञाओं के मूलरूप बहुवचन में इयाँ, इएँ तथा उएँ रूप बन जाते हैं। संज्ञा के मूल तथा विकृत रूपों में सामान्यतः समस्त सम्भावित परिवर्तन इस प्रकार दिए जा सकते हैं—

	पुल्लिंग		स्त्रीलिंग	
	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
		अकारान्त		
मूल रूप	आ	ए	×	एँ
विकृत रूप	ए	ओं	×	ओं
		अन्य रूप		
मूल रूप	×	×	×	एँ, ओं
विकृत रूप	×	ओं	×	ओं

लिंग

प्राकृतिक जड़ तथा चेतन पदार्थों के अनुसार विश्व का वर्गीकरण प्राचीन तथा आरम्भिक काल से तीन वर्गों में विभाजित किया गया। पुरुषवाची पदार्थ पुल्लिंग, स्त्रीवाची स्त्रीलिंग तथा लिंग की भावना के बिना पदार्थों को गणना

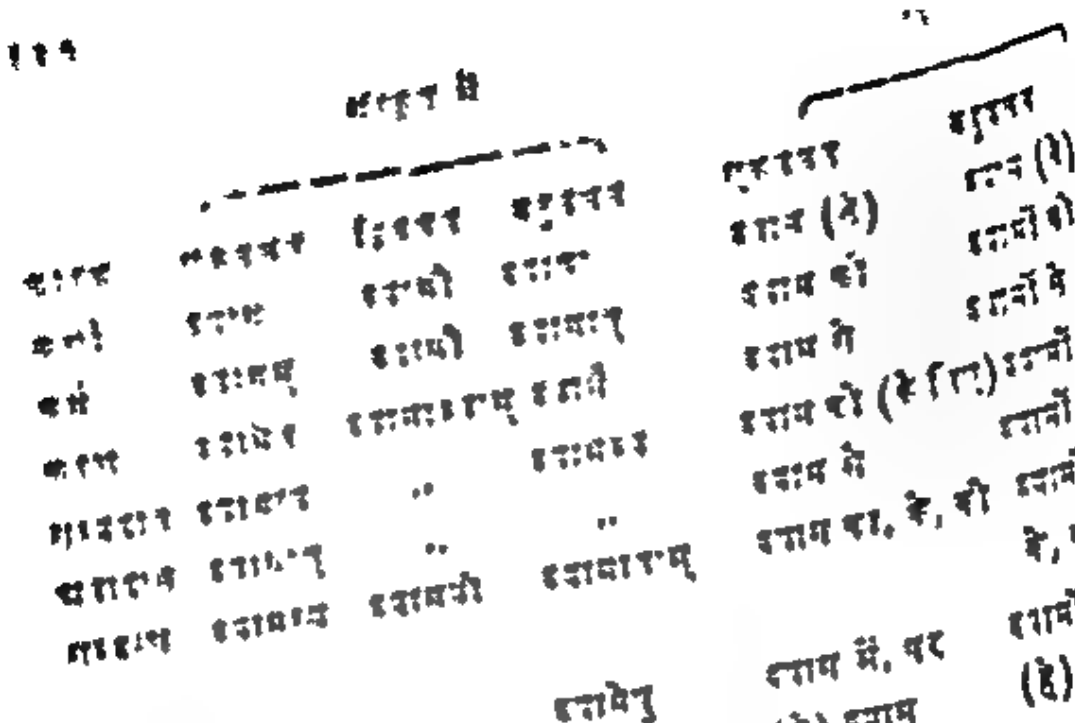

परंतु इन तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी और संस्कृत के इन रूपों में महान् अन्तर हो गया है। संस्कृत के संज्ञा-रूपों में विभक्तियाँ प्रायः संश्लेषण रूप में गुंथी हुई हैं जब कि हिन्दी में विभक्त होकर कारक-चिह्नों के रूप में स्वतन्त्र सत्ता रखने लगी है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि हिन्दी रूपों का सम्बन्ध संस्कृत के रूपों से बिलकुल नहीं है। ब्रज-भाषा, अवधी आदि हिन्दी की बोलियों में कुछ संयोगात्मक रूप पाये जाते हैं जैसे 'घर कौं' के लिए 'घरै' रूप मिलता है। किन्तु खड़ी बोली में ऐसे रूपों का प्रायः नितान्त अभाव है।

संज्ञा के विकृत रूप (Oblique Form)

कारक-चिह्न का प्रयोग करने के पहले हिन्दी संज्ञा के मूल रूपों के कु परिवर्तन करना पड़ता है। यह परिवर्तित रूप ही संज्ञा का विकृत रूप क जाता है। भिन्न-भिन्न अंत वाली संज्ञाओं के प्रत्येक कारक में चार रूप अव मिल जाते हैं। हिन्दी की इन संज्ञाओं के चार रूपों में दो मूल तथा विकृत रूप वचन-भेद की दृष्टि से उपलब्ध होते हैं। यथा—

रूप	एकवचन	बहुवचन
पुं० घोड़ा—मूल रूप (कर्ता)	घोड़ा	घोड़े
विकृत रूप (अन्य कारक)	घोड़े	घोड़े
स्त्री० लड़की—मू० रू० (कर्ता)	लड़की	लड़की, लड़कियाँ
वि० रू० (अन्य कारक)	लड़की	लड़कियों इत्यादि

कुछ आकारान्त एक वचन शब्दों में भी कर्ता के अतिरिक्त अन्य कारकों में एकारान्त विकृत रूप उपलब्ध होता है जैसे ऊपर कर्ता एकव० 'घोड़ा' अन्य कारक में एकारान्त एकव० 'घोड़े' रूप में परिवर्तित हो गया है। इन विकृत रूपों के विषय में यह मत है कि ये संस्कृत की भिन्न-भिन्न विभक्तियों के एक वचन रूपों का अवशेष मात्र हैं।

प्रायः यह देखा जाता है कि हिन्दी संज्ञाओं के मूल तथा विकृत रूपों में 'ओ' लगाने से पूर्व ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों में 'ई' और 'ऊ' के स्थानों पर क्रमशः 'इ' और 'उ' कर दिया जाता है। स्त्रीलिंग के अन्य रूपों में इकारान्त या ईकारान्त तथा ऊकारान्त संज्ञाओं के मूलरूप बहुवचन में इयाँ, इयें तथा उएँ रूप बन जाते हैं। संज्ञा के मूल तथा विकृत रूपों में सामान्यतः समस्त सम्भावित परिवर्तन इस प्रकार दिए जा सकते हैं—

पुल्लिंग			स्त्रीलिंग	
एकवचन		बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
		अकारान्त		
मूल रूप	आ	ए	×	एँ
विकृत रूप	ए	ओं	×	ओं
		अन्य रूप		
मूल रूप	×	×	×	एँ, ओं
विकृत रूप	×	ओं	×	ओं

लिंग

आधुनिक जड़ तथा चेतन पदार्थों के अनुसार विश्व का वर्गीकरण प्राचीन तथा आरम्भिक काल से तीन वर्गों में विभाजित किया गया। पुरुषवाची पदार्थ पुल्लिंग, स्त्रीवाची स्त्रीलिंग तथा लिंग की भावना के बिना पदार्थों की गणना

[illegible] की गई है। प्राकृतिक लिंग-भेद तो समस्त भाषाओं में समान [illegible] है, किन्तु व्याकरणिक दृष्टि से लिंगों की संख्या तथा उनका वि[illegible] भाषाओं में पृथक्-पृथक् रूप में मिलती है। उदाहरण के लिए [illegible] में पुल्लिंग, स्त्रीलिंग तथा अन्य पुरुषवाची सर्वनाम के रूप पुल्लिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिंग में भिन्न होते हैं। अंग्रेजी में अन्य पुरुष सर्वनाम के रूपों में [illegible] दिखाई पड़ती है।

भारतीय आर्य-भाषाओं में लिंगों की संख्या भिन्न-भिन्न रूप में उपलब्ध होती है। प्राचीन भारतीय आर्य-भाषाओं में संस्कृत और प्राकृत में आधुनिक आर्य-भाषाओं में मराठी, गुजराती और सिंहली में तीन-तीन लिंग मिलते हैं। हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी तथा सिन्धी में दो लिंग ही पाये जाते हैं। परन्तु बिहारी, उड़िया, बंगाली तथा आसामी में व्याकरण सम्बन्धी लिंग-भेद बहुत कम मात्रा में पाया जाता है। भारत की पूर्वी भाषाओं में प्रायः लिंग-भेद का अभाव है।

चैटर्जी महोदय का मत है कि बंगाली और भाषाओं में लिंग-भेद की भावना लुप्त हो गई है इसका स्पष्टीकरण कोल भाषाओं का इन पर प्रभाव है। दूसरे सम्भवतः इन भाषाओं में लिंग-भेद की शिथिलता का कारण इन भाषाओं का स्वाभाविक विकास हो सकता है। द्रविड़ भाषाओं में तीन लिंग प्रचलित हैं।

व्याकरण के दृष्टिकोण से लिंग-भेदों की अत्यधिक जटिलता का परिच[illegible] हिन्दी में मिलता है। इसमें केवल दो लिंग होते हैं—पुल्लिंग और स्त्रीलिंग। नपुंसक लिंग का इसमें नितान्त अभाव है। प्रायः प्रत्येक अचेतन पदार्थ को दोनों लिंगों के अन्तर्गत रखा जाता है और तत्सम्बन्धी समस्त रूप-परिव[illegible] इन शब्दों में भी कर दिए जाते हैं। यही कारण है कि विभिन्न भाषा-भा[illegible] को हिन्दी के शुद्ध लिंग का प्रयोग करने में कुछ कठिनता का अवश्य अनु[illegible] होता है। लिंग-भेद से हिन्दी क्रियाओं के रूपों में भी अन्तर पड़ जा[illegible] और उनका रूप पुल्लिंग और स्त्रीलिंग के अनुसार बन जाता है। उदाहरणा[illegible] लड़का जाता है। संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं में ऐसा कोई संकेत [illegible] मिलता है। संस्कृत के कृदन्त रूपों में लिंग-भेद की स्थिति उपलब्ध होती [illegible] हिन्दी कृदन्तों में लिंग-भेद मिलता ही है, साथ ही कृदन्त से बने क्रिया रू[illegible]

है इनका स्थान [illegible] है।

हिन्दी के तद्भवादि विशेषणों में इनमें लिंग-भेद के कारण विभिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार का भेद अन्य विशेषणों में कम ही पाया जाता है। लिंग-भेद के कारण हिन्दी विशेषणों में सर्व-प्रचलित परिवर्तन इस प्रकार होते हैं—

		पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
एकवचन	—	आ	ई
बहुवचन	—	ए	ई, ई

हिन्दी विशेषणों में 'ई' लगा कर बने हुए स्त्रीलिंग रूपों की व्युत्पत्ति संस्कृत के स्त्रीप्रत्यय 'इका'>प्राकृत के 'इआ' से अथवा इनके प्रभाव के परिणामस्वरूप मानी जाती है। हिन्दी में सर्वनाम तथा क्रिया-विशेषण ही ऐसे व्याकरणिक रूप हैं जिनमें लिंग-भेद का प्रभाव नहीं पड़ता है और न रूप किसी प्रकार विकृत ही हो पाते हैं। मैं, तुम, वह आदि सर्वनाम रूप स्त्रीलिंग और पुल्लिंग में समान रूप से प्रयुक्त होते हैं।

लिंग-भेद

प्रसिद्ध विद्वान् बीम्स का मत है कि हिन्दी संज्ञाओं के लिंग-भेद की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में संस्कृत में निर्धारित लिंग के अनुसार ही हिन्दी तत्सम तथा तद्भव शब्दों के लिंग माने जाते हैं। संस्कृत नपुंसक लिंग शब्द हिन्दी में प्रायः पुल्लिंग हो जाते हैं। पुनः बीम्स ने अनेक अपवादों को देखकर कुछ सिद्धान्त निर्धारित किये। उनके कथनानुसार हिन्दी की पुल्लिंग आकारान्त संज्ञाओं की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

(क) हिन्दी में कर्ता में आकारान्त रूप संस्कृत 'अन्' अन्त वाली संज्ञाओं से रखे जाते हैं; जैसे—राजन् से राजा।

(ख) संस्कृत की 'तृ' अन्तवाली संज्ञाओं से भी आकारान्त रूप बनाए जाते हैं, यथा—कर्तृ से कर्ता, दातृ से दाता, पितृ से पिता आदि। कुछ विदेशी शब्द (फारसी, अरबी, तुर्की) आदि से आए हैं। जैसे—दरिया, दरोगा आदि।

सामान्यतः हिन्दी के ईकारान्त शब्द स्त्रीवाची होते हैं लेकिन कुछ अवस्थाओं

में पुलिंगवाची भी देखने में आते हैं। यथा—

(१) संस्कृत 'इन' अन्त वाले शब्दों से हिन्दी में ईकारान्त शब्द बन
है, जैसे—सं० हस्तिन से हि० हाथी, सं० स्वामिन से हि० स्वामी।

(२) संस्कृत के 'तृ' अन्त वाले पुल्लिंग शब्दों से। यथा—सं० भ्रातृ=
हि० भाई, सं० नप्तृ से हिन्दी में नाती रूप मिलता है।

(३) संस्कृत के ईकारान्त पुल्लिंग या नपुंसक लिंग शब्द; यथा—संस्कृ
दधि (नपुं०) हिन्दी में दही और सं० भगिनीपति (पुं०) हिन्दी में बहनोई
गया।

(४) संस्कृत के 'इय', 'इक' और 'ईय' अन्त वाले पुल्लिंग या नपुं
लिंग शब्द, जैसे सं० पानीय=हि० पानी, सं० ताम्बूलिक=हि० तमोली,
क्षत्रिय=हि० खत्री।

(५) इकार या ईकार उच्चारण वाले संस्कृत के पुल्लिंग या नपुं
शब्द अन्त्य ध्वनि के लोप से हिन्दी में ईकारान्त हो जाते हैं, यथा—जीव
=जी।

(३) संस्कृत के आकारान्त स्त्रीलिंग हिन्दी में भी स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होते
हैं। यथा—स० वधू=हिन्दी 'बहू'। हिन्दी में आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों की
व्युत्पत्ति संस्कृत के आकारान्त स्त्रीलिंग शब्द और सदिग्ध व्युत्पत्ति वाले शब्द
'डिबिया', 'चिड़िया' आदि से होती है।

हिन्दी में आकारान्त पुल्लिंग शब्द ईकारान्त स्त्रीलिंग बन जाते हैं—लड़क
(पुं०)=लड़की (स्त्री०)। 'इन', 'इनी' या 'आनी' लगाकर अनेक शब्द पुल्लि
से स्त्रीलिंग बना लिए जाते हैं; यथा—पुल्लिंग धोबी से स्त्रीलिंग धोबिन (इन
हाथी (पु०)=हाथिन (स्त्री०) लुहार=लुहारिन। मुगल (पु०)=मुगलानी
(स्त्री०), मेहतर=मेहतरानी आदि।

संस्कृत तथा हिन्दी में एक शब्द के रूप में लिंग-परिवर्तन दिखाई देता
उदाहरणार्थ—संस्कृत के पु० देह, बाहु हिन्दी में (स्त्री०) बन गये। संस्कृत न
अक्षि शब्द हिन्दी में आँख (स्त्री०) बन गया। सं० विष (नपु०) हिन्दी
पुल्लिंग रूप में आता है।

वचन

हिन्दी में लिंग की भांति वचन की संख्या में भी परिवर्तन हुआ और

इन दो का उपयोग होता है—एकवचन तथा बहुवचन। जब कि प्राचीन एवं मध्यकालीन भाषाओं में इन दोनों के अतिरिक्त त्रिवचन का व्यवहार अधिक था पर परन्तु आधुनिक भाषाओं में धीरे-धीरे इसका लोप हो गया। हिन्दी एकवचन से बहुवचन रूपों का निर्माण अत्यन्त सरल ढंग से होता है। लिंग व्यवस्था तथा कुछ स्वतंत्र संज्ञाओं में प्रथम एकवचन तथा बहुवचन का समान होते हैं, जैसे—घर, बर्तन, आदमी आदि संज्ञाएँ दोनों वचनों में समान रूप से प्रयुक्त होती हैं।

१. स्त्रीलिंग आकारान्त तथा व्यंजनान्त संज्ञाओं में प्रथम बहुवचन में एँ लगता है। उदाहरणार्थ—रात से रातें (एँ), औरत से औरतें, कथा से कथाएँ आदि।

२. पुल्लिंग आकारान्त शब्दों में बहुवचन बनाते समय कर्ता में 'आ' के स्थान पर 'ए' कर दिया जाता है। यथा—लड़का से लड़के।

ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों में प्रथमा बहुवचन में या तो अनुस्वार जोड़ दिया जाता है अथवा 'ई' के स्थान पर 'इयाँ' कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ—लड़की से लड़कीं या लड़कियाँ, पोथी से पोथियाँ, नदी से नदियाँ आदि।

४. अन्य सभी कारकों में बहुवचन में समान रूप से—ओं लगता है, जैसे घरों, लड़कों, नदियों इत्यादि। ईकारान्त शब्दों में 'ई' ह्रस्व होकर 'ओं' के स्थान पर 'यो' हो जाता है, जैसे पोथी से पोथियों आदि।

प्रश्न ३१—हिन्दी तथा संस्कृत संज्ञा की कारक रचना के मूल सिद्धान्तों में क्या अन्तर हो गया है? संक्षेपपूर्ण उत्तर दीजिए।

हिन्दी के कारक-चिह्नों का विकास संस्कृत के विभक्त्यन्त रूपों से हुआ है। संस्कृत, प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं में विभक्ति या प्रत्यय रूप संयोगात्मक या सहित थे। उनका प्रयोग संज्ञाओं के साथ घुल-मिल कर होता था परन्तु आधुनिक आर्य-भाषाओं में अधिकांशतः इनका प्रयोग पृथक् शब्द के रूप में संज्ञाओं के साथ उनके पारस्परिक सम्बन्ध के बोध के लिए होता है। इस कारण हिन्दी आदि भाषाएँ व्यवहित तथा वियोगात्मक हैं। यह विकास का एक क्रमबद्ध इतिहास है। आर्य-भाषाओं के वे प्राचीन संयोगात्मक रूप धीरे-धीरे परिवर्तित होने लगे तथा मध्यकाल के अन्त में संज्ञा का प्रायः

रूप घिसकर विभिन्न विभक्तियों में प्रयुक्त होने लगा था। ये रूप इतने घिस गये कि इनके मूल रूप का परिचय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो गया है। अतः हिन्दी के वर्तमान कारक चिह्न मध्यकाल के अन्त में व्यवहृत सहायक शब्दों के अवशेष मात्र हैं। इसके अतिरिक्त भाषा के साधारण शब्द-समूह में इनके अत्यन्त लघु होने के कारण इनके पृथक् अस्तित्व का आभास भी स्पष्ट नहीं मिलता है। फलतः संज्ञा के विकृत रूपों में कारक-चिह्न लगाकर हिन्दी विभक्तियों के रूप बनाये जाते हैं। इन कारक-चिह्नों का विकास निम्न रूप से हुआ है।

१. कर्ता और करण कारक—संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं में संज्ञाओं के प्रथमा विभक्ति के रूपों में कोई विकार प्रायः नहीं होता। उसी प्रकार हिन्दी में कर्ता के रूपों में भी कोई कारक-चिह्न अधिकांश रूप में व्यवहृत नहीं होता। पश्चिमी हिन्दी में प्रत्यययुक्त कर्त्ता कारक का चिह्न 'ने' है।

ने—इसकी व्युत्पत्ति के विषय में अनेक मत-भेद हैं। ब्लाक और बियर्ज़न ने इसका सम्बन्ध संस्कृत 'तन' से माना है। बीम्स ने गुजराती, नेपाली आदि भाषाओं के आधार पर इस चिह्न का उद्भव करण कारक के अन्तर्गत माना है और इसे कर्मणि और भाव प्रयोग का अर्थ देने वाला बताते हैं। उन्होंने 'लगि' और 'लागि' से इसका सम्बन्ध स्थिर किया है। ट्रम्प आदि विद्वानों के मतानुसार इसकी व्युत्पत्ति तृतीया के 'एन' प्रत्यय से मानी है। यथा—'रामेण पुस्तक पठित' की हिन्दी सामान्यतः 'राम ने पुस्तक पढ़ी' है। परन्तु भ्रान्ति यह है कि 'एन' का 'ने' रूपान्तर किस प्रकार हुआ। बीम्स ने इस तर्क के खण्डन में 'ने' सम्प्रदान के चिह्न को करण कारक की क्रिया में प्रयोग होना बताया है, यथा—मारवाड़ी में सम्प्रदान के लिए 'नै' 'ने' का प्रयोग होता है। दूसरे प्राचीन हिन्दी में इसका प्रयोग न्यूनतम हुआ है। आधुनिक हिन्दी में इस 'ने' का प्रचलन प्रचुरता के साथ होने लगा है। हिन्दी में यह एक पृथक् कारक-चिह्न के रूप में प्रयुक्त होता है। अतः इसकी व्युत्पत्ति सम्भवतः 'एन' से न होकर किसी अन्य पृथक् अव्यय या शब्द से हुई होगी। इसका एक कारण यह भी है कि प्राचीन संयोगात्मक विभक्तियों (कारक) के अवशिष्ट रूप आधुनिक भाषाओं में सदा संयोगात्मक रूप में ही मिलते हैं। अभी तक इस 'ने' की व्युत्पत्ति

विशेष ही हो है।

२. कर्म तथा सम्प्रदान कारक—हिन्दी में कर्म तथा सम्प्रदान के लिए एक प्रकार के कारक-चिह्नों का व्यवहार किया जाता है। खड़ी बोली में 'को' वह दोनों विभक्तियों में प्रयुक्त होता है तथा 'के लिए' विशेषतः सम्प्रदान आता है।

को—डम्प के मत में इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द 'कृत' से है। इसका क्रमिक-क्रम इस प्रकार है—कृतं>किओ>किमो>को। इसी प्रकार कृतं से वह' की उत्पत्ति ऋ लोप के अनन्तर 'त' ध्वनि का महाप्राणीकरण (ह) है। प्राकृत में कतं और कदं रूप भी मिलते हैं।

हार्नली, बीम्स तथा चैटर्जी आदि विद्वान् 'को' की उत्पत्ति संस्कृत 'कक्ष' से मानते हैं, यथा—कक्ष>कक्खं>कांख>कांह>कहु>कहं>को>को। 'कक्षं' का अर्थ समीप या ओर के रूप में ग्रहण किया जाता है।

के लिए—के का सम्बन्ध संस्कृत 'कृते' और लिए का 'लग्ने>लग्गि>लग्गि>लगे से जोड़ा जाता है। हिन्दी बोलियों में इसी अर्थ में 'लागि', 'लगे' चिह्न प्रयुक्त होते हैं। सत्यजीवन वर्मा के मतानुसार 'के', 'को' कारक चिह्नों को सम्बन्धवाचक प्राचीन चिह्न 'केरक' का रूपान्तर मानते हैं। हार्नली 'लिए' की व्युत्पत्ति 'लब्धं' (लाभार्थ) से मानते हैं। पर अन्तिम दोनों मत सर्वमान्य नहीं हैं। हार्नली ने अन्य हिन्दी की कुछ ग्रामीण बोलियों के मुख्य शब्दों की व्युत्पत्ति इस प्रकार से दी है—

हिन्दी बोली		अपभ्रंश रूप		प्राकृत रूप		संस्कृत शब्द
ठाईं	<	ठाणि	<	ठाणे	<	स्थाने
पाहि	<	पक्खे	<	पहि	<	पक्षे
बने	<	वणे	<	—	<	वर्त्मनि
काज	<	कज्जि		कज्जे	<	कार्ये
ताईं, तईं	<	तइए	<	तइए	<	तृतीये
बाटे	<	वट्ट	<	वट्ट	<	वर्त्मनि
धरे	<					धरे

३. उपकरण तथा अपादान कारक—हिन्दी भाषा में इन दोनों कारकों का

चिन्ह 'से' ही व्यवहृत होता है। रूपान्तर से यही से, सन (अवधी), हे (ब्रज) तथा सै (बुंदेली) हो गया है।

से—बीम्स के मतानुसार इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'सम' से है। सं>सं> से। हार्नली के मत में 'से' का सम्बन्ध संस्कृत अस्>तथा प्राकृत हिं से जोड़ते हैं। अब बीम्स की व्युत्पत्ति ही मान्य है। केलाग के मत में का से तें' का विकास अपादान सूचक संस्कृत तः प्रत्यय से है, यथा—सं० तः, ब्रज फलतें।

४. सम्बन्ध कारक—इन कारक-चिन्हों का सम्बंध क्रिया की अपेक्षा संज्ञा या सर्वनाम रूपों से अधिक है। यही कारण है कि वचन तथा लिंग-भेद से इसमें थोड़ा बहुत अन्तर हो जाता है। 'का' एकवचन का रूप बहुवचन में 'के' तथा स्त्रीलिंग में 'की' हो जाता है, यथा—उसका कुत्ता तथा उसकी गैंद। इस 'का' का अन्य बोलियों में 'को, कौ' (ब्रज), कर, केर (अवधी) रूप मिलता है।

का—इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में बीम्स तथा हार्नली एकमत हैं। इसका विकास संस्कृत 'कृतः' से हुआ है—कृत>प्रा०करितो>करिमो>केरओ> केरमो (पुरानी हिन्दी)>करो>केर>का। केलाग के अनुसार हिन्दी 'को' तथा 'का' का सीधा सम्बन्ध सं० कृत. के प्राकृत रूप किम' या कदः से हो सकता है। अटर्जी 'का' का सम्बन्ध प्राकृत 'कक' से स्थापित करते हैं। सर्वप्रथम मत अधिक मान्य है। के और की 'का' के रूपान्तर मात्र हैं।

५. अधिकरण कारक—हिन्दी में अधिकरण के चिन्ह में, पै (ब्रज), पर प्रयुक्त होते हैं।

में—इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'मध्ये' से है, यथा—मध्ये>मज्झे>मज्झि> मज्झहि>माहि मह्रि>मे। इसमें मतभेद नहीं है।

पर—इसका विकास संस्कृत 'उपरि' से है। हार्नली पर का सम्बन्ध सं० परे>प्राकृत परि, पर से जोड़ते हैं।

इस प्रकार हिन्दी कारक चिन्हों का विकास अधिकांशतः संस्कृत के विभक्त्यन्त प्रत्ययों से न होकर संस्कृत के पृथक् तथा स्वतन्त्र शब्दों से हुआ है।

[illegible] के अनुसार उनको स्वतन्त्र पद बताना

संज्ञाओं के स्थान पर सर्वनामों का प्रयोग किया जाता है अतः इनके रूप कारक विभक्तियों में संज्ञा रूपों के समान चलते हैं। इनको आठ भागों में विभाजित किया गया है। संक्षिप्त रूप में उनकी व्युत्पत्ति नीचे दी जाती है।

१. पुरुष वाचक सर्वनाम—इसके तीन भेद हैं—उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष। अन्य पुरुष का विवेचन निश्चयवाचक के साथ किया जाएगा।

उत्तम पुरुष—इसके निम्न मुख्य रूपान्तर हैं—

	एकवचन	बहुवचन
मूलरूप	मैं—	हम
विकृतरूप	मुझे (मुझ)—	हमें
सम्बन्ध कारक	मेरा—	हमारा

मैं—इसका सम्बन्ध अहं से न होकर संस्कृत तृतीय रूप 'मया' से निर्धारित किया गया है। इसका विकास मया > प्रा० मई (मए)>अप० मइं>हिन्दी मैं, है। मैं की अनुस्वार ध्वनि तृतीया 'एन' के प्रभाव से है।

मुझ—इसका उद्भव संस्कृत 'मह्यं' से माना जाता है। जैसे मह्यं> मज्झ>मझ>मुझ। मझ से मुझ की रचना तुझ के सादृश्य पर हुई है। कुछ विद्वान् इसका विकास प्राकृत रूप मह से मानते हैं। इसी का रूप मैं के आधार पर मुझे हो गया है।

हम—हम की व्युत्पत्ति प्राकृत रूप 'अम्हे' से है जो वैदिक 'अस्मे' का परिवर्तित रूप है। अम्हे>म्हे>हमे>हम एक क्रमिक विकास शृंखला का फल है। हमें का सम्बन्ध प्राकृत तथा अपभ्रंश रूप 'अम्हई' से स्थिर किया जाता है।

ब्रज आदि पुरानी हिन्दी के 'हौं' (मैं) की उत्पत्ति संस्कृत अहं से है। जैसे अहं>अहय (शौरसेनी)>हमु>हउं (अपभ्रंश)> हौं (ब्रज)।

मेरा, हमारा—इन दोनों सम्बन्धबोधक सर्वनाम का सम्बन्ध प्राकृत रूप 'महकेरो' या 'मह करो' से निर्धारित किया जाता। हिन्दी में यही रूप म्हारो, म्हारो, मेरा आदि रूपों में विकसित हुआ है। इसमें केरो, करो प्रत्यय हैं। हमारा अम्हकेरो से बना है।

ब्रज भाषा एकवचन का 'मो' विकृत रूप संस्कृत षष्ठी रूप 'मम' से विकसित है। जैसे—मम>मह>महं>मों—मो। बीम्स का ऐसा मान है।

मध्यम पुरुष—इसके मुख्य रूपान्तर निम्न हैं—

	एक व०	बहु व०
मूल रूप	तू	तुन
विकृत रूप	तुझ	तुम
सम्बन्ध कारक	तेरा	तुम्हारा

तू—इस। विकास संस्कृत 'त्वया' से हुआ है, यथा—त्वया (सं० तुम (प्राकृत)>तुह (अपभ्रंश>तू हिन्दी)।

तै (ब्रज) रूप में की तरह त्वया (>तइ, तए>तइं>तै) से बना है का विकृत रूप तुझे है।

तुम—संस्कृत का 'तुभ्य' प्राकृत में तुज्झ और हिन्दी में तुझ बना। इ

तुम—तुम का उद्गम संस्कृत 'तुष्मे' से माना जाता है। तुष्मे से प्राकृ तुम्हें, तुम्ह तथा हिन्दी में तुम हो गया। हिन्दी तुम्हें का सम्बन्ध अपभ्रं तुम्हइ से है।

तेरा, तुम्हारा—तेरा तथा तुम्हारा प्राकृत के तुहं केरो तथा तुम्ह करकों या तुम्हकेरो से बना है।

२—निश्चयवाचक सर्वनाम—हिन्दी में निश्चयवाचक सर्वनाम का व्यवहार अन्य-पुरुष में भी होता है। इसके मुख्य रूप ये हैं—

	एक०	बहु०
मूल रूप	वह, यह	वे, ये
विकृत रूप	उस (उसे)	उन (उन्हें)
	इस (उसे)	इन (इन्हें)

वह—यह, ये निकटवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम है। यह शब्द संस्कृत एषः से बना है।

वे—ये की व्युत्पत्ति संस्कृत 'एते' से मानी जाती है। चैटर्जी ने समस्त निकटवर्ती निश्चयात्मक सर्वनामों का सम्बन्ध एतद् के रूपों से माना है।

इस—इसका विकास संस्कृत अस्य, प्राकृत एअस्स से माना जाता है। चैटर्जी 'इस' का अनुमान संस्कृत एतस्य से करते हैं।

इन—यह रूप एतेन>एदिण>एदणा से संदिग्ध है। 'न' में षष्ठी बहु-वचन का प्रभाव दृष्टिगत होता है। इसे, इन्हें मूल रूपों के विकृत रूप हैं।

वह—इसकी व्युत्पत्ति अनिश्चित है। तद् रूपों से इनका यथार्थ सम्बन्ध नहीं है। चैटर्जी के मतानुसार संस्कृत के कल्पित रूप 'अव'>प्राकृत 'ओ' से वह की उत्पत्ति है। 'अव' और 'ओ' रूप ईरानी और दरद भाषाओं में भी मिलता है। 'उस' का सम्बन्ध प्राकृत अउस्स तथा संस्कृत अवस्य से जोड़ा जा सकता है। इसी प्रकार वे और इन का अनुमान किया जा सकता है। इसे, इन्हें विकृत रूप हैं।

१. अनिश्चयबोधक सर्वनाम—इसके मुख्य रूपान्तर इस प्रकार हैं।

	एक०	बहु०
मूल रूप	कोई	कोई
विकृत रूप	किसी	किन्ही

कोई—इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'कोऽपि' से है। प्राकृत में कोवि तथा हिन्दी में कोई बन गया। प से व और वह हो जाना ध्वनि-नियमों के अनुकूल है।

किसी—संस्कृत शब्द 'कश्चित्' का ही रूपान्तर हिन्दी का किसी है। किन्ही रूप की व्युत्पत्ति संदिग्ध तथा अनिश्चित है।

कुछ—इसका सम्बन्ध संस्कृत 'कश्चित्' से माना जाता है। प्राकृत में इस का 'कुच्छ' रूप मिलता है।

४. सम्बन्धबोधक सर्वनाम—हिन्दी सम्बन्धबोधक सर्वनाम के प्रमुख निम्न रूप है—

	एक व०	बहु व०
मूल रूप	जो—जो	
विकृत रूप	जिसे जिसे	जिन, जिन्हें।

[illegible] है। ८ जो>जो।

है। इन्ह>जिन्ह>जिन।

ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। हिन्दी की बोलियों में कौन के स्थान पर 'को' रूप भी मिलते हैं। इसकी उत्पत्ति स्पष्टतः संस्कृत 'कः' से है।

किस—संस्कृत कस्य>प्राकृत कस्य>किस।

किन—इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत कानां या काणां (केषां) कल्पित रूपों से मानी जाती है। जैसे—सं० कानां>प्रा० केणां>केनां>किन। किसे, किन्हें रूप अन्य प्रचलित रूपों के समान हैं।

क्या—हिन्दी 'क्या' की उत्पत्ति अनिश्चित है। किं से इसका सम्बन्ध अभी विचाराधीन है।

प्रश्न १५—हिन्दी क्रिया के कालों में संस्कृत कालों के कौन से रूप अवशेष रह गये हैं। दोनों का सम्बन्ध स्थापित कीजिये।

या

हिन्दी क्रियाओं की व्युत्पत्ति बताइये।

संस्कृत भाषा की सबसे बड़ी विशेषता उसका संयोगात्मक होना है। अनेक रूपों की भाँति कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः संस्कृत क्रियायें संयोगात्मक ही थीं। ए. प्रयोग, दस काल, तीन पुरुष और तीन वचन के अनुसार प्रत्येक संस्कृत धातु के ५४० (६×१०×३×३) भिन्न-भिन्न रूप मिलते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक की अपनी व्याकरणिक विशेषता के फलस्वरूप एक-रूपता भी नहीं पाया जाता है। इस विशेषता के कारण संस्कृत की लगभग दो हजार धातुओं को स्वादिगण आदि दस गणों में विभक्त कर दिया गया है। गणों की धातुओं के रूप में परस्पर अधिक भेद पाया जाता है। इसलिए संस्कृत धातु रूप अधिक जटिल और दुरूह है।

मध्यकालीन आर्य-भाषाओं में धातुरूप—रचना की दृष्टि से समयानुकूल सरल होने लगे थे। मध्यकालीन आर्य भाषाओं में क्रिया तो संयोगात्मक ही रही पर रूपों की संख्या संस्कृत की तुलना में कम हो गई थी। स्वादिगण में धातुओं की संख्या अधिक होने से और उपयोगिता की दृष्टि से इसका प्रभाव अन्य गणों पर भी पड़ा। यह परिवर्तन हमें पालि भाषा में दृष्टिगत होने लगा था। संस्कृत [illegible] पालि में लोप हो गया और छः प्रयोगों में से परस्मैपद का प्रयोग [illegible]। इनमें लकारों की

संख्या भी आठ गिनती है। अतः पालि में सामान्यतः प्रत्येक धातु के (१×२×३)=२४० रूप ही मिलने हैं। प्राकृत भाषाओं के विकास के साथ ही धातु रूपों में सरलता का सन्निवेश और अधिक हो गया। महाराष्ट्री में गणों का प्रायः अभाव है और क्रिया के रूप स्वादिगण के समान ही चलते हैं। संस्कृत के दस प्रयोगों में से केवल तीन प्रयोग कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य तथा प्रेरणार्थक और लकार चार काल ही अवशिष्ट रहे। कालों के कम हो जाने से इनका प्रयोग बढ़ा, जिसका प्रभाव आधुनिक आर्य-भाषाओं की क्रियाओं के विकास पर स्पष्ट दिखाई देता है। यद्यपि संस्कृत, पालि और प्राकृत की क्रियाएँ सयोग अवस्था में ही रहीं किन्तु इनके रूपों की संख्या न्यूनतर होती गई। संस्कृत के समान प्रयोग, काल तथा वचन आदि की अभिव्यक्ति के लिए धातु के पृथक् पृथक् रूप नहीं रह गए। तब ऐसे समय में वियोगात्मक ढंग के नवीन रूपों की सृष्टि स्वाभाविक ही थी।

आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाएँ—आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की सबसे बड़ी विशेषता रूपों का वियोगात्मक होना है। हिन्दी में क्रिया-रूप भी अपेक्षाकृत अधिक सरल तथा व्यवहित हैं। हिन्दी में क्रमशः रूप से दो ही वचन एकवचन तथा बहुवचन रह गये जिनके तीन पुरुषों में तीन रूप होते हैं। हिंदी में दो तीन काल ही ऐसे मिलते है जो संस्कृत कालों के विकसित रूप कहे जा सकते हैं। इसमें शुद्ध संयोगात्मक रूपों का सर्वथा अभाव है। कुछ धातुओं में दोनों प्रकारों का मिश्रण है। पर क्रिया रूपों की वियोगात्मक प्रवृत्ति हिन्दी में अधिकांशतः लक्षित होती है। धातु क्रिया का प्रत्यय हीन मूल रूप होता है जैसे चलना, चला, चलेगा, चलता आदि में 'चल' मूल रूप है। अतः 'चल' धातु कही जा सकती है। वैयाकरणों के अनुसार संस्कृत की धातु-संख्या लगभग एक हजार मानी जाती है। वैदिक काल की दो सौ धातुएँ लौकिक संस्कृत में लुप्त हो गई थी। केवल ८०० का प्रयोग प्राचीन साहित्य में मिलता है। आगे चलकर संस्कृत में व्यवहृत धातुओं में से भी आधुनिक आर्य-भाषाओं में बहुतों का प्रचार नहीं रहा। प्राचीन धातुओं के आधार पर कुछ नवीन धातुओं की रचना भी कालांतर में हो गई थी तथा उनका प्रचलन भाषाओं में चल पड़ा है।

हिन्दी की धातुएँ—हार्नली ने गणना कर हिन्दी की धातुएँ पांच सौ मानी । ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी धातुओं के दो रूप हैं—मूल धातु तथा यौगिक तु। संस्कृत से हिन्दी मे आने वाली धातुएँ मूल कही जा सकती हैं। हार्नली अनुसार इनकी संख्या १६३ है। कुछ मूल धातुएँ संस्कृत धातुओं से स्वरूप ी दृष्टि से साम्य रखती हैं। यथा हिन्दी की 'खा' तथा संस्कृत की 'खाद्' मे र्ण साम्य है। कुछ धातुओं में संस्कृत के किसी विशिष्ट गण का प्रभाव मलता है या प्रायः गण-परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ हि० नाच<सं० त=य+आदि।

(क) मूल धातु—मूल धातुओं को चार वर्गों में रक्खा जाता है—

१. वे हिन्दी की मूल धातुएँ जो प्राचीन भारतीय आर्य-भाषाओं (प्रा० भा० आ०) से क्रमगत आई हैं तथा उनका सम्भवतः तद्भव रूप ही मिलता है।

२. वे मूल धातुएँ जो प्रा० भा० आ० की धातुओं के प्रेरणार्थक रूपों से विकसित हुई है। इनका भी प्रायः तद्भव रूप मिलता है।

३. वे मूल धातुएँ जो आधुनिक काल में सीधे संस्कृत से ली गई हैं। वे तत्सम या अर्द्ध-तत्सम रूप में हिन्दी में लक्षित होती हैं।

४. वे मूल धातुएँ जिनकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है, पर रूप की दृष्टि से संस्कृत धातुओं के सदृश प्रतीत होती हैं।

(ख) यौगिक धातु—हिन्दी यौगिक धातुएँ वे कहलाती हैं जिनका विकास संस्कृत धातुओं से नहीं हुआ है किन्तु जिनका सम्बन्ध या तो संस्कृत रूपों से है या आधुनिक काल में नवीन रूप में रचित हैं। इनके तीन विभाग किये जा सकते हैं—

१. नाम धातु—जिनका निर्माण संज्ञा रूपों से हुआ है, यथा (हि० जन्म <सं० जन्म)।

२. संयुक्त धातु—जो रूपों का मिश्रण है, जैसे हिन्दी कुछ <सं० कुत्र + हि०।

३. अनुकरण मूलक—उदाहरणार्थ हिन्दी कुड़कुड़, बड़बड़ाना आदि।

[illegible] हिन्दी के यौगिक धातुओं की संख्या १८६ मानी है। दूसरी ओर

सीमित धातुओं के अतिरिक्त कुछ विदेशी भाषाओं की धातुएँ तथा शब्द
में धातुओं के समान प्रयुक्त होने लगे हैं।

सहायक क्रिया—सहायक क्रियाओं तथा कृदन्त रूपों का हिन्दी की
रचना में विशेष हाथ है। हिन्दी काल-रचना में 'होना' सहायक क्रि
व्यवहार होता है तथा उसके रूप भिन्न कालों में पृथक्-पृथक् पाये जाते
'होना' के विभिन्न रूप निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाते हैं—होना (पुल्लि
<सं० भू।

वर्तमान (निश्चयार्थक)		भूतकाल (निश्च०)		भविष्यत् (नि०
एकवचन	बहुवचन	ए० व०	ब० व०	ए० व०
उत्तम पु० हूं	हैं	था	थे	होऊँगा
मध्य पु० है	हो	था	थे	होगा
अन्य पु० है	हैं	था	थे	होगा

वर्तमान (आज्ञा)		भूत (संभावनार्थ)
उ० पु०	होऊँ हों	होता होते।
म० पु०	हो होओ	होता होते।
अ० पु०	हो होवें	होता होते।

भविष्य आज्ञा के अर्थ में मध्यम पुरुष बहुवचन में 'होना' रूप का व्यवहार
किया जाता है। स्त्रीलिंग में अनेक रूप परिवर्तित हो जाते हैं। इस 'होना'
धातु के रूपान्तरों का सम्बन्ध व्युत्पत्ति की दृष्टि से संस्कृत की एक से अधिक
क्रियाओं से है। इनकी यथासम्भव व्युत्पत्ति इस प्रकार दी जा सकती है—

हूँ—इन सबकी व्युत्पत्ति संस्कृत की अस् धातु से संभावित है। यथा—
० हूँ०(बोली हों)<प्रा० अम्हि, अस्मि<सं० अस्मि।

है—हिन्दी है<प्रा० अत्थि <सं० अस्ति मिलता है। इस क्रिया से बने
न्दी बोलियों के अनेक रूपों में तथा कुछ अन्य प्रान्तीय भाषा के रूपों में भी
अस् का 'अ' वर्तमान है जैसे अहै आदि। खड़ी बोली में प्रायः इसका लोप
गया है।

'था' आदि भूतकाल की क्रियाओं का सम्बन्ध संस्कृत 'स्था' धातु से जोड़ा
ा है। 'होना' के शेष रूपों का उद्गम भू धातु से माना जाता है।

[illegible]

हिन्दी क्रियाओं के काल—प्रकृत रूप से कालों की रचना [illegible] तीन ही [illegible] जाती है—वर्तमान, भूत और भविष्यत्। परन्तु विध्यर्थ, संभावनार्थ, [illegible] तथा व्यापार की [illegible] और [illegible] आदि की दृष्टि से हिन्दी [illegible] कालों की संख्या सोलह तक मानी गई है। ऐतिहासिक रूप से हिन्दी क्रियाओं का तीन वर्गों में विभाजन किया जा सकता है।

(क) संस्कृत कालों के अवशेष काल—इस वर्ग में वर्तमान संभावनार्थ और आज्ञार्थ की गणना की जाती है। आचार्य किशोरीदास के मत में हिन्दी वर्तमान संभावनार्थ रूपों का सम्बन्ध संस्कृत के वर्तमान काल के रूपों से स्थापित किया जाता है। उदाहरणार्थ—संस्कृत 'चलामि'>प्राकृत 'चलामि'> अपभ्रंश 'चलउं' और>हिन्दी चलूं का विकास हुआ है। हिन्दी के प्रथम [illegible] के रूपों की व्युत्पत्ति संस्कृत के रूपों से मानी जाती है। सं० प्रथम पुरुष बहुवचन का 'त' मराठी में अब भी वर्तमान है, यथा, 'उठती' मराठी और 'वे उठें' हिन्दी। इसी प्रकार मध्यम पुरुष के रूपों की उत्पत्ति संस्कृत से मानी [illegible] बीम्स के अनुसार उत्तम पुरुष एकवचन और बहुवचन के रूपों [illegible] परिवर्तन हो गया है। उदाहरणार्थ—चलामः > प्रा० चलामु,

चलाउ 7 चलो, चलू। इसी प्रकार सं० चलामि 7 प्र
चलें। ग्रियर्सन के मत में हिन्दी आज्ञार्थक रूपों का उद्भ
काल के रूपों से है। किन्तु बीम्स के अनुसार आज्ञा के रूपों
संस्कृत के वर्तमान और आज्ञार्थक दोनों कालों का प्रभाव हिन्
पर पड़ा है।

उदाहरणार्थ—एक वचन में—संस्कृत प्राकृत

चलानि	चलमु
चल	चलसु
चलतु	चलदु, चलउ

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि म० पु० एकवचन को छो
र्थक के अन्य हिन्दी रूप वर्तमान सम्भावनार्थक के ही समान हैं।
और सम्भाव्य भविष्यत् के रूपों का इस प्रकार का मेलजोल प्रा
उपलब्ध हो जाता है।

(ख) संस्कृत कृदन्तों से बने काल—इस वर्ग के अन्तर्गत भूतकाल
र्थ, सम्भावनार्थ) तथा भविष्यत् (अ-ज्ञार्थक) आते हैं। इनके लिए
भूतकालिक तथा वर्तमानकालिक कृदन्त तथा क्रियार्थक संज्ञा का
होता है।

(ग) आधुनिक संयुक्त काल—इस वर्ग में वे समस्त काल आ जा
जनकी रचना कृदन्त तथा सहायक क्रियाओं के सहयोग से हुई है। इन
स्वयं संस्कृत कालों से जोड़ना उचित नहीं है। वाक्य रचना के लिए हिन्
नवीन प्रणाली का आश्रय लिया गया है। संस्कृत में 'य' के प्रयोग
वाच्य बनता है। प्राकृत तथा आधुनिक आर्य-भाषाओं में इसके अनेक रू
ा होते हैं, जैसे 'आ' के योग से बुझाय, कहावै आदि में 'आ' कर्मवाच्य की
त्ति चैटर्जी के कथनानुसार संस्कृत नाम धातु के 'आय' से हुई है।
१. प्रेरणार्थक धातु—संस्कृत के प्रेरणार्थक रूपों की रचना 'अय' या 'पय'
र होती है। यथा, कारयति (√ कृ), हासयति (√हस), दापयति (दा)
(गै)। प्राकृत में प्रेरणार्थक धातु रचना की दो शैलियां हैं—एक मे
र' का 'ए', दूसरे में 'य' का 'व' में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ—

> कारयति>प्रा० कारेई या करावेइ, कारावेइ आदि। हिन्दी में प्रेरणार्थक धातु चिह्न 'आ' 'वा' प्राचीन चिह्नों के रूपान्तर मात्र हैं। सकर्मक धातुओं में दोनों चिह्नों का प्रयोग किया जाता है—पढ़ा, जनना, जनाना, जनवाना, पढ़ना पढ़ाना, पढ़वाना आदि। वस्तुतः हिन्दी में 'वा' रूप व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रेरणार्थक है।

२. नाम धातु—संज्ञा या विशेषण में क्रिया के प्रत्यय जोड़ने से हिन्दी में नाम धातु बनते हैं। प्राचीन काल में भारतीय आर्य-भाषाओं में इनका प्रयोग मिलता है। हिन्दी नाम धातु 'आ' का उद्भव सं० नामधातु 'माय' से माना जाता है, इस पर प्रेरणार्थक के 'आपय' का प्रभाव भी लक्षित होता है।

१. अनुकरण मूलक धातु—हिन्दी में संयुक्त क्रियाओं की रचना शब्दों की आवृत्ति के द्वारा की जाती है। ये क्रियाएँ प्रायः अनुकरण मूलक हैं।

उदाहरणार्थ—खटखटाना, फड़फड़ाना, तिलमिलाना आदि।

हिन्दी संयुक्त क्रियाओं का निर्माण आधुनिक युग में ही हुआ है। प्राचीन भारतीय आर्य-भाषाओं में जो कार्य प्रत्यय के योग से होता था, वह कार्य आधुनिक भा० आ० भाषाओं में संयुक्त क्रिया के प्रयोग से सम्पन्न हो जाता है। इस कारण हिन्दी भाषा में इसका प्रयोग पर्याप्त मात्रा में होता है।

प्रश्न—हिन्दी क्रिया की काल-रचना में कृदन्तों के महत्व का विवेचन कीजिए।

सहायक क्रिया के अतिरिक्त हिन्दी क्रिया की काल-रचना में कृदन्त रूपों का विशेष रूप से सहयोग लिया जाता है। अतः हिन्दी क्षेत्र में इनका महत्व अत्यधिक है। काल-रचना की दृष्टि से कृदन्तों का विभाजन तीन श्रेणियों में किया जा सकता है—१. वर्तमान कालिक कृदन्त, २. भूतकालिक कृदन्त, तथा ३. पूर्वकालिक कृदन्त। ४. क्रियार्थक संज्ञा।

१. वर्तमान कालिक कृदन्त—हिन्दी काल-रचना में यह धातु के अन्त में 'ता' लगाने से बनता है। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के वर्तमान कालिक कृदन्त 'अन्त' (धातु प्रत्ययान्त) वाले रूपों से मानी जाती है। यथा—

हिन्दी	प्राकृत
पढ़ना	पढ़ना
पढ़ी	पढ़ती
पढ़ने	पढ़ंती

२. पूर्वकालिक कृदन्त—यह धातु के अन्त में 'आ' लग
इसका सम्बन्ध संस्कृत के पूर्वकालिक कृदन्त के
प्रत्यय) वाले रूपों से माना जाता है—पढ़ा, हिन्दी पढ़ा>प्र
सं० पठित । हि० करना० प्रा० करिओ<सं० कृत्वः । भोजपुरी म
'ल' प्रत्यय वाले रूप भी उपलब्ध होते हैं । इनका सम्बन्ध सीधे
भाषा के 'कृत्य' तथा प्रा० भा० आर्य भाषा के 'त' प्रत्यय से जो

३. पूर्वकालिक कृदन्त—इसकी रचना हिन्दी में 'कर-के' चिह
रो होता है जब कि संस्कृत में 'त्वा' या 'य' प्रत्ययों से इसकी रचना
है । उपसर्ग विहीन शब्दों के साथ प्राकृत में 'य' से सम्बन्धित रूप
व्यवहार किया जाता है अतः संस्कृत के 'त्वा' और 'य' का भेद स्थि
सका । उदाहरणार्थ=हिंदी सुन (ब्रज० सुनि)<प्रा० सुणिअ<सं० श्
बोलियों में इस प्रकार के इकारांत संयोगात्मक पूर्वकालिक कृदन्त रूप
प्रयोग प्रायः पाया जाता है । व्यवहार में अ ते-आते इस प्रकार का सो
हो गया और सुनि (ब्रज) का 'सुन' रह गया । हिन्दी कर<प्रा० करिअ
के<प्रा० 'कइव' से है ।

४. क्रियार्थक संज्ञा—धातु के अन्त में 'ना' जोड़ने से बनती है । बीम्स 'न
का सम्बन्ध सं० भविष्य कृदन्त 'अनीय' से मानते हैं । जैसे—हिंदी 'करना
<प्रा० करणीअ <सं० करणीयं । बोलियों में 'अन' रूप का भी व्यवहार
किया जाता है जैसे, देखन', चलना । इन 'अन' रूप की व्युत्पत्ति संस्कृत
क्रियार्थक संज्ञा अनं (जैसे सं० कारणं चलनं) से मानी जाती है । हिन्दी भाषा
में क्रियार्थक संज्ञा का व्यवहार भविष्य (आज्ञार्थक) के अर्थ में होता है । कुछ
आधुनिक आर्य भाषाओं में 'ब' के संयोग से क्रियार्थक संज्ञा की रचना की
जाती है जैसे बंगाली, उड़िया, ब्रजभाषा तथा गुजराती आदि में । इसका
सम्बंध संस्कृत कर्मवाच्य भविष्य कृदन्त प्रत्यय तव्य से माना जाता है । जैसे—
हिंदी करब<प्रा० करेअव्व, करिअव्व<सं० कर्तव्यम् । हिंदी की कुछ बोलियों

में भविष्यत् काल में भी इस—'व' अन्त वाले रूप का प्रयोग पाया जाता है।

३) कर्तृवाचक संज्ञाएँ क्रियार्थक संज्ञा के विकृत रूप में वाला, हारा आदि लगाकर बनाई जाती हैं। जैसे जाने वाला, पकड़ने वाला आदि। हिन्दी वाला का सम्बंध सं० 'पालक' तथा 'हारा' का सम्बन्ध सं० 'धारक' से जोड़ते । कुछ बोलियों में 'अइया' लगाकर भी कर्तृवाचक संज्ञा की रचना की जाती है, यथा पढ़ैय्या, करय्या आदि। इसका उद्भव भी संस्कृत 'तृक' से है। जैसे, पढ़ैया<पठतृकः।

४. तात्कालिक कृदन्त—तात्कालिक कृदन्तों का निर्माण वर्तमानकालिक कृदन्तों में 'ही' लगाकर किया जाता है। प्रायः वर्तमानकालिक कृदन्त के विकृत में ही प्रयुक्त किया जाता है, यथा—जाते ही, नहाते ही आदि। अपूर्ण क्रिया द्योतक कृदन्त वर्तमान कालिक कृदन्त का ही एक परिवर्तित रूप है। जैसे—उसे पुस्तक पढ़ते नींद आ गई। भूतकालिक कृदन्त के विकृत रूप से पूर्ण क्रिया द्योतक कृदन्त का जन्म हुआ है। उदाहरणार्थ—'उसे गये बहुत दिन हो गये।'

आधुनिक काल में हिन्दी कृदन्तों का प्रयोग काल के अर्थ में होने लगा है। संस्कृत कृदन्तों से ही हिन्दी कृदन्तों की उत्पत्ति हुई है परन्तु काल रूप में प्रयुक्त हिन्दी कृदन्तों का सम्बन्ध सीधा संस्कृत कालों से नहीं है। मूल कालों की कमी हो जाने से प्राकृत में भी इसी प्रकार कृदन्तों का प्रयोग पाया जाता है। आधुनिक काल में जब प्राचीन कालों के संयोगात्मक रूप लुप्त हो गये तो कालों की रचना के उद्देश्य से अधिकांशतः कृदन्त रूपों का प्रयोग स्वाभाविक था।

कृदन्त से बने हुए हिन्दी में काल प्रायः तीन हैं—

१. भूत निश्चयार्थक—भूतकाल कृदन्त से।

२ भूत सम्भावनार्थक—वर्तमान कालिक कृदन्त से।

३. भविष्य आज्ञार्थक—क्रियार्थक संज्ञाओं से।

इन कृदन्त अन्य कालों के कारण ही हिन्दी क्रिया में लिंग-भेद पाया जाता [illegible] में लिंग-का स्थूल-

भेद इस प्रकार किया जा सकता है—चल से—

पुल्लिंग		स्त्रीलिंग	
एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहु
चलता, चला	चलते, चले	चलती, चली	चलतीं, च

इस प्रकार क्रिया की काल-रचना में कृदन्तों का अपरिमित महत्व है।

प्रश्न ३७—संख्यावाचक विशेषणों की व्युत्पत्ति स्पष्ट कीजिए।

हिन्दी भाषा में परिवर्तन के साथ संख्यावाचक विशेषणों में जो परिवर्तन हुए हैं वे विचित्र ही प्रकार के हैं। विचित्रता यह है कि इन विशेषणों का विकास अन्य हिन्दी शब्दों की भाँति क्रमिक या क्रमबद्ध नहीं हो पाया है अर्थात् इनका सम्बन्ध सर्व प्रचलित भाषा से है। केवल कुछ ही रूपों में प्राकृत, अपभ्रंश का प्रभाव है—यथा—गुजराती—बे, मराठी—दोनों और बंगाली—दुई। इन संख्यावाचक विशेषणों को पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१. पूर्ण संख्यावाचक विशेषण
२. अपूर्ण संख्यावाचक विशेषण
३. क्रम संख्यावाचक विशेषण
४. आवृत्ति संख्यावाचक विशेषण
५. समुदाय संख्यावाचक विशेषण

१. पूर्ण संख्यावाचक विशेषण—बीम्स के ग्रन्थ में इन विशेषणों प्राचीन और परिष्कृत रूप प्राप्त होता है। इस विषय में चैटर्जी महोदय ने भी कुछ नवीन अन्वेषण किए हैं। अतः उपलब्ध सामग्री के आधार पर अब तक जो कुछ भी प्रकाश संख्यावाचक विशेषणों पर पड़ा है उसका ध्वनि-विकारों सहित संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

एक—संस्कृत एक>प्राकृत>एक्क>हिन्दी एक। हिन्दी गिनती में एक के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। ग्यारह>सं० एकादश का विकृत रूप है। 'या' अंग क् के पोय रूप तथा प्राकृत अंग 'एगा' से प्रभावित है। एकादश द्वादश के सादृश्य पर एकादश रूप संस्कृत में बना और यह 'या' ध्वनि कृत और हिन्दी में भी सुरक्षित रही। संयुक्त संख्याओं में 'ए' का सम्प्रसारण

[illegible] है, जैसे—इकतीस, इकत्तीस, इकत्तीस आदि। इनमें 'इ' संस्कृत के 'द्वि' को इकारादेश का परिवर्तन रूप है।

दो—हिन्दी के दो का रूप संस्कृत के 'दो' तथा प्राकृत के 'दो' से है। संस्कृत 'दो' की तरह हिन्दी में भी संयुक्त व्यंजनों के पूर्व 'दु' का प्रयोग हुआ है। जैसे—दुकान, दुबला, दुर्भाग्य इत्यादि। इस 'दो' ध्वनि हिन्दी शब्दों में 'दु', 'दू' तथा 'दो' रूप में मिलता है जैसे दुकड़ा, दोनों दोहरा आदि।

तीन—हिन्दी का तीन संस्कृत त्रि/त्रि<संस्कृत योनि रूपों से संबद्ध माना है। संस्कृत त्रय का स्पष्ट प्रभाव हमें संयुक्त संख्याओं में 'ते', 'तें', 'तो' या 'त्र' रूपों में दृष्टिगोचर होता है, उदाहरणार्थ—तेरह, तेंतीस, तिरासीस, त्रिशत आदि।

चार—हिन्दी का चार प्राकृत में 'चत्तारि' तथा संस्कृत में चत्वारि रूप में प्राप्त होता है। संयुक्त संख्याओं और शब्दों में हिन्दी के 'चौ' तथा चार रूप मिलते हैं जिन पर संस्कृत रूप 'चतुर' तथा प्राकृत रूप 'चउरो' का प्रभाव है। यथा—चौपड़ी चौरासी, चौमास, चौदह आदि। चारपाई, चारखाना आदि अर्वाचीन शब्दों में चार का प्रयोग किया गया है।

पाँच—हिन्दी का पाँच संस्कृत तथा प्राकृत दोनों में 'पंच' रूप में मिलता है। हिन्दी की संयुक्त संख्याओं पर प्राकृत 'पन' या 'पण' का स्पष्ट प्रभाव है। जैसे—पन्द्रह, पैंतालीस आदि। कुछ संख्याओं में 'पन' 'बन' में बदल गया है, यथा—इक्यावन, चौवन आदि। प्राकृत का पंच कहीं 'पंच' तथा कहीं 'पच' बन गया है। उदाहरणार्थ—पंचवटी, पंचामृत, पचपन, पचासी पचमेल आदि इस प्रकार कुछ ध्वनि-परिवर्तन भी हो गया है।

छः—हिन्दी की यह संख्या प्राकृत में 'छ' तथा संस्कृत में 'षट्' मिलती है। प्राकृत का 'छ' का 'षट्' से विकास अनियमित सा है परन्तु 'ष' का आभास हिन्दी के सोलह और साठ में दृष्टिगत होता है। अन्य संयुक्त संख्याओं में 'छ' या छया' रूप समान रूप से मिलता है, यथा—छत्तीस, छयासठ आदि। चैटर्जी ने 'छ' का सम्बन्ध प्राचीन कल्पित रूप 'छय' या 'क्षक' से माना है। परन्तु इसका रूप अभी अस्पष्ट तथा संदिग्ध सा है।

सात—हिन्दी का सात प्राकृत में 'सत्त' तथा संस्कृत में 'सप्त' है। सं
संयुक्त संख्याओं में प्राकृत का सत या सत अपने शुद्ध रूप में अब भी सुरक्षि
मिलता है, यथा—[redacted]तरह, सतासी, सतानवें आदि। इसका 'सैं' रूप भी प्रयुक्त
होता है, जैसे सैंतीस, सैंतालीस आदि। 'अड़सठ' के सादृश्य पर 'सरसठ' सं
'सड़सठ' संख्या बन गई है।

आठ—हिन्दी का 'आठ' प्राकृत में 'अट्ठ' तथा संस्कृत में 'अष्ट' है।
संयुक्त संख्याओं में 'अट्ठ', 'अठा' तथा अठ आदि रूप मिलते हैं। उदाहरणार्थ
—अट्ठाईस, अठारह, अठहत्तर आदि तथा अड़तालीस और अड़सठ में अठ का
अड़ रूप हो जाता है।

नौ—यह रूप प्राकृत में 'नव' और संस्कृत में 'नव' उपलब्ध होता है
केवल नवासी और निन्यानवे में नौ का रूप प्रयोग होता है। इनका संस्
में भी समान रूप 'नवसीत नवनवति।' अन्य संयुक्त संख्या के रूपों में (वहां
वाली संख्याओं में) संस्कृत ऊन>प्रा० ऊण'>हि० उन (एक कम) लगाकर
बनती हैं। उदाहरणार्थ—उन्नीस, उनासी, उन्तालीस आदि।

दस—यह प्राकृत मे दस तथा संस्कृत में 'दश' है।
ग्यारह आदि संयुक्त संख्याओं में प्राकृत के दह, रह, सह आदि समस्त रू
वर्तमान हैं, जैसे—चौदह, अठारह, सोलह आदि। हिन्दी मे 'स' का 'ह' तथा
र, ल का परस्पर परिवर्तन रूप से हो जाता है।

बीस—हिन्दी का 'बीस' <प्राकृत 'बीसइ' तथा संस्कृत 'विंशति'।
रूपान्तर है। बीस की यह ध्वनि संयुक्त संख्याओं चौबीस और छब्बीस
सुरक्षित है परन्तु कहीं-कहीं 'व' का लोप होकर 'ईस' ध्वनि शेष रह गई है।
उदाहरणार्थ—इक्कीस, बाईस, तेईस, चौबीस आदि।

तीस—हिन्दी का 'तीस' प्राकृत मे 'तीसा' और संस्कृत में 'त्रिंशत' रूप
में दृष्टिगत होता है। संयुक्त संख्याओं में 'तीस' ही रहता है, यथा—इकतीस
बत्तीस, तैंतीस इत्यादि।

चालीस—यह हिन्दी रूप प्राकृत में 'चत्तालीसा' और संस्कृत में 'चत्वारि-
शत्' मिलता है। संयुक्त संख्याओं में 'चत्तालीस' में 'त' का लोप होकर चालीस
या 'त' के लुप्त हो जाने पर या सीस यथावत् रूप मिलते हैं। जैसे—इक-

उनतीस, बयालीस आदि।

पचास—हिन्दी का पचास प्राकृत में पचासा और संस्कृत में 'पंचाशत्' मिलता है। संयुक्त संख्याओं में पचास का स्थानापन्न रूप 'पन', 'वन' 'उन' है। जैसे बावन, तिरपन और चौवन आदि। उनचास, पचास के आधार पर बना है।

साठ—हिन्दी की इस संख्या के रूप प्राकृत में 'सट्ठि' तथा संस्कृत में 'षष्ठि' मिलते हैं। संयुक्त संख्याओं में इसका रूपान्तर 'सठ' है, यथा—इकसठ, बासठ, तरेसठ आदि।

सत्तर—हिन्दी के सत्तर का प्राकृत में 'सत्तरि' तथा संस्कृत में 'सप्तति' प्राप्त होता है। पालि तथा प्राकृत में 'त' ध्वनि 'र' में परिवर्तित हो गई है। हिन्दी के सत्तर पर इन्हीं प्राकृत रूपों का प्रभाव है। चटर्जी महोदय के मत में 'सप्तति' में ति<टि—टि<रि ध्वनि विकसित हो गयी है। परन्तु यह अभी सर्वमान्य नहीं है। संयुक्त संख्याओं में 'सत्तर' की 'स' ध्वनि 'ह' में बदल गई है, जैसे उनहत्तर, इकहत्तर, बहत्तर आदि। सत्तर में 'ह' का लोप होकर 'ह' महाप्राण 'ठ' में मिल गया है।

अस्सी—हिन्दी अस्सी का विकास>प्राकृत 'असीइ'>संस्कृत 'अशीति' से हुआ है। संयुक्त संख्याओं में आसी अथवा यासी रूप मिलता है, यथा—उनासी, चौरासी आदि। अस्सी में 'स' का द्वित्व रूप पंजाबी के प्रभाव से है।

नब्बे—यह रूप प्राकृत के 'नव्वइ' तथा संस्कृत के 'नवति' का रूपान्तर है। संयुक्त संख्याओं में प्राकृत समरूप 'नव्वे' रूप मिलता है, जैसे बानवे, तिरानवे आदि।

सौ—हिन्दी का सौ प्राकृत में 'सय' तथा 'सअ' और संस्कृत में 'शत' है। इसका रूपान्तर संयुक्त संख्याओं में 'सै' हो जाता है, यथा,सैकड़ा, चार सै एक।

इस [illegible] हिन्दी में यह फारसी का तुल्यम शब्द है। संस्कृत संयुक्त संख्याओं [illegible] का। हिन्दी में

[illegible] है। [illegible]

[illegible]

[illegible] है।

[illegible] है। [illegible]

[illegible] है।

[illegible] हुआ है।

उन्नीस—यह संस्कृत एकोनविंशति [illegible] का ही रूपान्तर है। [illegible] लुप्त होकर 'व' ध्वनि 'ई' में परिवर्तित हो गई। 'त' का 'न' बन गया। अतः उन्नीस बना।

करोड़—वैदिक संस्कृत रूप से यह निष्पन्न है परन्तु ध्वनि-नियमों के लागू न होने के कारण इसकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है।

काज—शब्द संस्कृत 'कार्य' का विकसित रूप है। कार्य की मध्य ध्वनि 'र्' का लोप हो गया तथा 'य' तालव्य ध्वनि 'ज' में बदल गई और काज बन गया।

केवट—यह शब्द 'कैवर्त' का रूपान्तर है। मध्य व्यंजन 'र्' का लोप हो गया तथा 'त' समीपवर्ती ध्वनि 'ट' में परिवर्तित हो गई और केवट रूप अवशिष्ट रहा।

कौड़ी—इसकी व्युत्पत्ति 'कपर्द' से है। मध्य व्यंजन 'प' का घोष रूप 'व' बन गया। संयुक्त स्वर 'औ' का जन्म 'अ' और 'व' के संयोग से हुआ है। 'र' तथा 'द' के योग से 'ड' बना। प्रयत्न की दृष्टि से 'र' लुंठित और 'ड' उत्क्षिप्त तथा निकटवर्ती ध्वनियाँ हैं। उच्चारण की दृष्टि से भी 'द' और 'ड' में एक स्थान का अन्तर है। अतः 'ट' का 'ड़' हो गया है। अन्त्य स्वर 'अ' 'ई' में परिवर्तित हो गया।

गोरू—गोरू शब्द की व्युत्पत्ति 'गोरूप' से स्पष्ट है। 'प' के लोप हो जाने से गोरू रूप शेष रह गया।

ग्यारह—हिन्दी ग्यारह का विकास संस्कृत 'एकादश' से माना जाता है। वर्ण 'क' अपने घोष रूप 'ग' में परिवर्तित हुआ। ऊष्म व्यंजन 'श' का

'ह' हो गया और आदि स्वर 'ए' का लोप हो गया। यह सब ध्वनि-नियम अनुसार है पर 'द' का 'र' में परिवर्तन तेरह (त्रयोदश) और सोलह (षोड़ के सादृश्य पर हुआ है जैसा कि अन्य रूप बारह, पन्द्रह आदि में दृष्टिगो होता है।

चीता—इस शब्द की व्युत्पत्ति 'चित्रक' से है। मध्य व्यंजन 'त्र' और 'क' का लोप होकर ह्रस्व 'इ' और 'अ' दीर्घ हो गये और चीता शब्द बन गया।

जमाई—यह संस्कृत 'जामातृ' का रूपान्तर है। अन्त्य वर्ण का व्यंजन 'त्' का लोप हो गया और 'ऋ' 'ई' में बदल गई। मध्य स्वर 'आ' ह्रस्व होकर जमाई रूप बन गया।

डेढ़—संस्कृत 'ढयर्द्ध' प्राकृत में दिअड्ढ रूप हो गया और अन्त में वि, अ का लोप होकर हिन्दी में डेढ़ रह गया।

ढाई—इस शब्द की व्युत्पत्ति 'अर्ध-तृतीय' से है जिसका प्राकृत रूप 'अड्ढ-तीय' है। इस परिवर्तन में व्यंजन का लोप का नियत है तथा दकार स्व-समीपवर्ती उच्चारण स्थान 'ड' ध्वनि में बदल गया है। इसलिए अड्ढतीय में मध्य व्यंजन 'त' का लोप हुआ और 'ढ्' अपनी महाप्राण ध्वनि 'ढ' में परिवर्तित होकर दीर्घ हो गया। अढ़ाई शब्द में आदि स्वर 'अ' के लोप हो जाने से 'ढाई' बन गया।

तेल—इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत तैल शब्द से हुई है। 'ऐ' का 'ए' हो गया है।

दियासलाई—इसकी व्युत्पत्ति 'दीपशलाका' से हुई है। 'प' का 'व' और 'व' का 'य' में परिवर्तन होकर दीर्घ हो गया है। अन्तिम शब्द 'का' के 'क' व्यंजन का लोप होकर अन्तिम स्वर 'आ' 'ई' बन गया और 'श' का 'स' में परिवर्तन होकर दियासलाई रूप बना।

दूसरा—भीम ने इसका सम्बन्ध 'द्वितयः' से जोड़ा है। 'द्वि' का 'दू' रूप हो जाना सम्भाव्य तथा सरल है। अन्तिम वर्ण 'य' का लोप होकर पू के 'ऊ' से 'र' का य विलीन होकर दीर्घ हो गया।

निन्यानवे—यह संस्कृत 'नवनवति' का रूपान्तर है। —

नेवना—इस शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'नवुन' से है। 'उ' अर्द्ध स्वर 'व' में परिवर्तित हो गया। 'न' के 'अ' का 'ए' तथा 'त' के 'अ' का दीर्घ हो गया। इस प्रकार नेवना शब्द बना।

पचपन—इसका संस्कृत रूप पंचाशत है, पर पंचाशत से 'पचपन' बनना संदिग्ध है। प्रतीत होता है 'पन' की व्युत्पत्ति प्राकृत रूप 'पणासा' से है। पंच पणासा से पंच के अनुस्वार का लोप होकर 'पच' और अन्तिम वर्ण 'सा' का लोप हो गया। 'पणा' से 'पन' शेष रहा। और रूप पचपन बन गया।

पचहत्तर—यह संस्कृत 'पंच सप्तति' का रूपान्तर है। ऊष्म स ध्वनि का नियमानुसार 'ह' हो गया। पर 'प्त' का 'त' होना सम्भव नहीं। प्राकृत में इसका रूप 'सत्तरि' मिलता है। चटर्जी महोदय ने इसकी व्युत्पत्ति त्त>ह्त>ह्त>ह्त>हि>रि मानी है जो प्रायः संदिग्ध है।

पहला—इसकी व्युत्पत्ति प्राकृत 'पढिल्ल' या 'पढिल्ल' से है। पढिल्ल का सम्बन्ध संस्कृत के प्र-थ-इल्ल से बताते हैं। पढिल्ल में मध्य स्वर 'इ' का लोप होकर महाप्राण 'ध' का 'ट' में परिवर्तन हुआ। ल दीर्घ 'ला' बन गया। बीम्स के मतानुसार इसकी व्युत्पत्ति 'प्रथम' शब्द से है जो सर्वमान्य नहीं है।

बाईस—संस्कृत 'द्वाविंशति' का ही यह रूपान्तर है। आदि व्यंजन 'द' का लोप हो गया। पुनः 'त्रि' का लोप होकर 'व' का 'ई' हुआ। 'श' का 'स' हो गया। इस प्रकार विंशति का 'ईस' बन कर बा के योग से बाईस रूप बन गया।

अबूत—इस शब्द की व्युत्पत्ति 'विभूति' से है। इसमें व्यंजन विपर्यय से 'भ' के स्थान पर 'ब' और 'व' के स्थान पर 'भ' हो गया। पुनः मध्य और अन्त्य स्वर 'इ' का 'अ' बनकर 'अबूत' बन गया।

मूँछ—इस शब्द की उत्पत्ति संस्कृत शब्द 'श्मश्रु' से है। आदि व्यंजन 'श्' का लोप हुआ और स्वर-विपर्यय के नियमानुसार अन्त्य स्वर 'उ' आदि व्यंजन 'म' से जुड़ गया। अन्तस्थ और ऊष्म 'श्र' के संयोग में 'र' का लोप हो गया, पर 'श' ने परिवर्तित होकर विगत तालव्य रूप धारण कर लिया। 'र' का [illegible] वर्ण था अतः इसके प्रभाव से तालव्य वर्ण का

[illegible] वर्ण 'ए' बन गया।

सोनो—इसकी व्युत्पत्ति 'सुवर्ण' से है। मध्य व्यंजन 'व' का लोप हो
और अन्त्य 'ण' 'ओ' ध्वनि में बदल गया। अन्त्य स्वर 'अ' में प
परिवर्तित होकर 'सुवर्ण से सोनो' बन गया।

रैन यह 'रजनी' से बना है। मध्य व्यंजन 'ज' लुप्त है और परिवर्तित
होकर मात्र अनुनासिक 'ँ' हो गया। 'अ' और 'ज' मिलकर संयुक्त स्वर 'ऐ'
बन गया। इस प्रकार रजनी >रयनी>रैनी>रैन हो गया।

साझ—इस शब्द की व्युत्पत्ति 'सायाह्न' से है। सरलीकरण के सिद्धान्त
से 'साझ' शेष रहा। अर्थात् 'य' वर्ण 'अ' से 'अ' बन कर लुप्त हो गया है।

सांझ—यह तत्सम शब्द 'सन्ध्या' से बना है। सन्ध्या में स्वर और व्यञ्जन
ध्वनियों का संयोग है तथा दोनों का ही लोप होकर अन्त्य 'अ' के पूर्व
व्यञ्जन 'न' का अनुनासिक वर्ण हो गया है। इस प्रकार 'न्ध्या' का 'ध' का
अनुनासिक (ं) का अनुस्वार (ाँ) होकर मध्य 'अ' दीर्घ हो गया।

सांप—इसका उद्भव संस्कृत 'सर्प' से है। मध्य-व्यंजन 'र्' का लोप हो
गया। स्वर 'अ' दीर्घ बन गया। अनुस्वार का आगम अनुस्वार किसी अनुनासिक
से हुआ होगा।

सोहाग—इसकी व्युत्पत्ति 'सौभाग्य' से है। महाप्राण ध्वनि में 'भ'
परिवर्तित होकर केवल 'ह' शेष रही है। 'ग्य' में मध्य व्यंजन 'ज्' का लोप
होकर 'ग' बचा है।

प्रश्न ३९—हिन्दी के उपसर्गों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उपसर्ग—हिन्दी में उपसर्ग दो प्रकार के हैं—(१) स्वदेशी तथा (२)
विदेशी।

स्वदेशी-उपसर्ग

[illegible] अर्थ के रूप में है—[illegible]।

३. दुर—सं० दुर्+[illegible] द, जैसे दुरात्मा>सं० दुर्जन, दुराचार, दुर्मति।

४. [illegible]—[illegible] के दोनों रूप हैं उदाहरण [illegible] हैं, यथा—पास, पुरस्कार।

५. सि—यह संस्कृत शिरस् का रूपान्तर है, यथा सिरोपा, सिर्दर्द। सं०—सिंदूर।

विदेशी उपसर्ग—

अब्—यह फारसी के 'अज' से बना है, यथा—अबजोर, अबवान।

अल्—फारसी में इसका अर्थ है, यथा—अलगरज, अलगलत, अलगलाम।

गैर—(फा०) यथा—गैरहाजिर।

दर्—(फा०) मूल दर (फीवर) है, यथा—दरबार, दरकार।

ना—(फा०) उदाहरणार्थ—नाराज, नाखुश, नालायक।

ना—(फा०) यथा—नाराजी, नाचार, नाजवाब।

फी—(फारसी तथा अरबी)—फी सदान, फी आदमी।

बद्—(फा०) बुरा अर्थ में आता है—बदसूरत बदनाम।

बे—(फा०) बिना अर्थ में आता है, यथा—बेचैन, बेगुनाह।

हर—(फा०) प्रत्येक अर्थ में आता है, उदाहरणार्थ—हर घड़ी, हर रोज।

हेड—(अंग्रेजी) मुख्य अर्थ में आता है—हेडमास्टर, हेड पंडित।

हाफ्—(अं०) आधे अर्थ में प्रयुक्त होता है—हाफपेन्ट।

साइ—(अं०) यथा—साय-दिष्टी।

प्रश्न ४०—स्वराघात का भेदों सहित विवेचन करते हुए हिन्दी में उसकी विकसित स्थिति पर प्रकाश डालिए।

उच्चारण करते हुए प्रायः ऐसा देखा जाता है कि वाक्य के किसी एक शब्द या शब्द के किसी एक भाग पर शेष भाग की अपेक्षा अधिक जोर या बल देना पड़ता है। इस जोर या बल को आघात या स्वराघात कहा जाता है। स्वराघात के समय ध्वनि में एक प्रकार का कम्पन और स्पन्दन रहता है तथा इस प्रकार लहरें पैदा होती हैं। स्वराघात में विभिन्नता इन ध्वनि-लहरियों के छोटा-बड़ा होने पर आधारित है। फेफड़ों से श्वासवायु निकलते समय जितने

मन से सुनने अवश्य लगता है उतना ही अन्तर स्वरों में हो जाता है। बल की सुस्पष्टता, अल्पता गति और विलम्बता के आधार पर ध्वनि बल भी तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—सबल, समबल और अबल। उदाहरणार्थ— कोकिला पद में अधिकांश बल 'ला' पर है, 'को' पर बल 'ला' से कम है तथा 'कि' ध्वनि पर बल सबसे कम है अतः 'ला' सबल, को 'समबल तथा 'कि' अबल तथा निर्बल कहा जाता है।

यह बलाघात केवल किसी शब्दांश पर ही नहीं अपितु शब्द में किसी सम्पूर्ण शब्द पर तथा किसी अनुच्छेद में किसी विशेष शब्द आदि पर भी दिया जा सकता है। इस बलाघात तथा स्वराघात के कारण अर्थ में एक प्रकार के चमत्कार का समावेश हो जाता है। उदाहरणार्थ 'राम अभी बाजार जाएगा' में 'राम, अभी, बाजार, जाएगा' इन चार शब्दों ने पृथक्-पृथक् पर बलाघात के कारण में उसके अर्थ प्रमुखता तथा निश्चितता हो जाती है। स्वराघात तीन भेद हैं—(१) संगीतात्मक, (२) बलात्मक तथा (३) रूपात्मक।

( ) संगीतात्मक स्वराघात—इसका सीधा सम्बन्ध स्वरतन्त्रियों से है स्वरों के आरोह, अवरोह के अनुसार सरगम की भाँति ऊँचा तथा नीचा कि जाता है। जिस प्रकार सितार के तारों के शिथिल होने पर उनमें 'स्वर' उत्प करने की सामर्थ्य नहीं होती उसी प्रकार स्वरतन्त्रियों की शिथिलता से सं तात्मक स्वराघात में अवरोध हो जाता है। संगीत में इसे विशेष संकेतों द्व उपस्थित किया जाता है। वैदिक संस्कृत पर संगीतात्मक स्वराघात की स्पष्ट है। वैदिक साहित्य में वेद ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में लिखित शब्दों के तथा नीचे चिह्न लगे रहते हैं जो गीतात्मक स्वराघात के सूचक हैं। वै स्वरों के तीन भेद थे—उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित। उदात्त उच्च, अनु नीचा तथा स्वरित सम स्वर था। उदात्त स्वरों पर भारतीय रीति से चिह्न नहीं लगाया जाता है। अनुदात्त के नीचे पड़ी लकीर (—) और स्व वर्ण के ऊपर खड़ी लकीर (।) होती थी तथा उदात्त, अनुदात्त तथा स्व लगाने के नियम भी प्रायः वैयाकरणों ने निश्चित कर दिये थे। उदाहर

। । ।
लिए— अग्निहोता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
— — ।
— — ।

साधारणतया प्रत्येक वैदिक शब्द में गीतात्मक स्वराघात पाया जाता है। चीनी भाषा आज भी संगीतात्मक है। वैदिक भाषा में बलात्मक स्वराघात का अस्तित्व था लेकिन वह प्रमुख न होने के कारण चिन्हित नहीं किया जाता था। प्राकृतों में महाराष्ट्रीय, मागधी (अर्द्ध) जैन, काव्यात्मक अपभ्रंश तथा जैन शौरसेनी में यह स्वराघात वर्तमान था।

२. बलात्मक स्वराघात—बलात्मक स्वराघात का सम्बन्ध फेफड़ों से है। इसमें संगीतात्मक स्वराघात की भाँति ध्वनि ऊँची-नीची नहीं की जाती है अपितु साँस को धक्के के साथ छोड़कर जोर दिया जाता है। फेफड़ा तेजी से वायु फेंकता है। इस प्रकार शब्द के जिस अंश पर बलात्मक स्वराघात होता है उसकी आवाज कुछ जोर से सुनाई पड़ती है। लैटिन और अवेस्ता में बलात्मक स्वराघात अधिक था। आधुनिक भाषाओं में अंग्रेजी और फारसी में भी यह पाया जाता है। इससे शब्द के अर्थ में भी प्रायः परिवर्तन हो जाता है। जैसे Conduct (कॉन्डक्ट) शब्द में स्वराघात (c) पर है तो शब्द संज्ञा और यदि (d) पर है तो क्रिया हो जायेगा। यह बलात्मक स्वराघात शब्दान्त के पूर्व प्रथम दीर्घ स्वर पर प्रायः रहता है। संस्कृत श्लोकों के उच्चारण में प्रायः इस प्रकार का स्वराघात प्रचलित है। शौरसेनी, मागधी तथा प्राकृतों में संस्कृत के बलात्मक स्वराघात का विकसित रूप वर्तमान कहा जाता है। प्रो० टैनर के अनुसार आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओंमें संगीतात्मक तथा बलात्मक दोनों ही स्वराघातों का अस्तित्व है। इस विषय में अनेक विद्वानों में मतभेद भी है। परन्तु यह निश्चित है कि वैदिक काल के पश्चात् लिखित रूप में स्वराघात चिह्नित करने का रिवाज उठ गया था अतः अधिकांश सामग्री अनुमान पर ही आधृत है।

३. गुणात्मक स्वराघात—यह स्वराघात गीतात्मक तथा बलात्मक स्वराघातों से भिन्न है। प्रत्येक मनुष्य की स्वरतन्त्रियाँ शारीरिक बनावट के अनुसार भिन्न-भिन्न होती हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति के स्वर तथा लहजे में भिन्नता होती है। इसी लहजे या बोलने के विशेष ढंग से हम एक व्यक्ति की आवाज से पहचान सकते हैं। यह स्वराघात बोलने में ही प्रयुक्त होता है। इ[illegible] के लिखों से देखा जा सकता है।

उपर्युक्त पद में रे, रे, के' में तीनों दीर्घ [illegible] परन्तु छंद की दृष्टि से ह्रस्व
इस कारण जिन वर्णों पर स्वराघात नहीं है वे चाहे मात्रा की दृष्टि से
ह्रस्व हों या दीर्घ स्वराघात के अभाव में ह्रस्व ही माने जाते हैं। कविता और
गद्य में भी इसी नियम का प्रायः पालन किया जाता है।

शब्दों में भी बलात्मक स्वराघात की स्थिति प्रायः है। बारह में व्यवहृत
अधिकांश शब्दों में स्वराघात पाया जाता है। द्व्यक्षर, त्र्यक्षर तथा अधिक
अक्षर वाले शब्दों में अन्त के दो अक्षरों में से उस पर स्वराघात होता है जो
दीर्घ हो या स्थान के कारण दीर्घ माना जाय। यदि दोनों अक्षर दीर्घ या
ह्रस्व ही हों तो स्वराघात उपान्त्य अक्षर पर होता है; जैसे निशान, पगोश, भाषण
कहाँ आदि।

इस प्रकार स्वराघात का हिन्दी में विकास वैदिक काल से चली हुई एक
लम्बी परम्परा की शृंखला मात्र है।

प्रश्न ४१—हिन्दी भाषा की वैज्ञानिक परिभाषा दीजिए तथा उसके
साहित्यिक रूप पर दृष्टि डालते हुए खड़ी बोली की उत्पत्ति और विकास पर
एक लघु लेख लिखिए।

रूप की दृष्टि से हिन्दी शब्द फारसी भाषा का है जिसका अर्थ हिन्द देश
का वासी या हिन्द देश की भाषा दोनों अर्थों में ही प्रयुक्त होता था। शब्दार्थ
की दृष्टि से हिन्दी शब्द का प्रयोग हिन्द या भारत में बोली जाने वाली किसी
आर्य अथवा अनार्य भाषा के लिए हो सकता है किन्तु व्यावहारिक रूप से
हिन्दी उस बड़े भूभाग की भाषा मानी जाती है, जिसकी सीमाएँ पश्चिम में
जैसलमेर, उत्तर-पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के
पूर्वी छोर तक के पर्वतीय प्रदेश का दक्षिणी भाग, पूर्व में भागलपुर, दक्षिण-
पूर्व में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खण्डवा तक पहुँचती है। भाषा-शास्त्र
के अनुसार इस हिन्दी प्रदेश की तीन-चार उपभाषाएँ मानी जा सकती हैं—
राजस्थानी, बिहारी, पहाड़ी तथा पूर्वी हिन्दी। सूक्ष्म रूप में इन हिन्दी को
प्राचीन रूप में मध्यदेश अथवा अन्तर्वेद की भाषा कह सकते हैं। यदि आगरा
को हिन्दी का केन्द्र माना जाय तो उत्तर में हिमालय की तराई तक, पश्चिम में
[illegible] तक और दक्षिण में नर्वदा की घाटी तक और पूर्व में कानपुर

तक हिन्दी का क्षेत्र माना जाता है। इस प्रदेश में हिन्दी के दो उपरूप माने जाते हैं—पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी। ऐतिहासिक दृष्टिसे पश्चिमी हिन्दी शौरसेनी की तथा पूर्वी हिन्दी अर्द्धमागधी की। पश्चिमी हिन्दी को ही वास्तविक रूप में हिन्दी कहा जा सकता है, जिसमें खड़ी बोली, ब्रज, बाँगरू, कन्नौजी और बुन्देली बोलियाँ आती हैं। पूर्वी हिन्दी की अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी भी हिन्दी के क्षेत्र में गिनी जाती हैं।

साहित्यिक रूप—हिन्दी भाषा की खड़ी बोली, ब्रज और अवधी साहित्यिक भाषाएँ हैं। शेष बोलियों में बहुत कम साहित्य मिलता है अतः वे हिन्दी की ग्रामीण बोलियाँ कही जा सकती हैं। मध्यकाल में ब्रज तथा अवधी साहित्यिक भाषाएँ थीं। भक्तिकाल तथा रीतिकाल का प्रायः सर्वांङ्गीण काव्यात्मक वाङ्मय ब्रज और अवधी दोनों ही भाषाओं में लिखा गया था परन्तु कालान्तर में खड़ी बोली इन दोनों भाषाओं का अतिक्रमण कर अब हिन्दी-साहित्य-प्राङ्गण की राजरानी बन गई है। हिन्दी और उर्दू खड़ी बोली के दो साहित्यिक रूप हैं। एक ढाँचा भारतीय परम्परागत है और दूसरी को फारसी परम्परा के आधार पर विकसित किया गया है। जिस समय मुसलमानों का आगमन भारत में हुआ उन्होंने दिल्ली और मेरठ की बोली (खड़ी बोली) को 'हिन्दवी' नाम से पुकारना आरम्भ किया। धीरे-धीरे यही परिनिष्ठित हिन्दी के रूप में वर्तमान है। आजकल हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश में हिन्दुओं के आधुनिक साहित्य, पत्र-पत्रिकाओं, शिष्ट बोल-चाल तथा स्कूली शिक्षा की भाषा एकमात्र खड़ी बोली हिन्दी है। यह खड़ी बोली हिन्दी और उर्दू दोनों का मूलाधार है।

खड़ी बोली की उत्पत्ति और विकास

खड़ी बोली का अर्थ—खड़ी बोली में 'खड़े' शब्द के अनेक अर्थ किए जा सकते हैं—(क) खड़ी बोली अच्छे या खरे नागरिकों की बोली है। (ख) खड़ी बोली में एक प्रकार का खड़ापन या अक्खड़पन है। भाव यह है कि इस भाषा में ब्रजभाषा जैसी मधुरता तथा सौम्यता नहीं है। (ग) खड़ी बोली का अर्थ खरी बोली या शुद्ध भाषा के अर्थ में किया जाता है। सारांश यह है कि तत्कालीन साहित्यिक भाषा ब्रज और अवधी की अपेक्षा इस बोली का स्वर अधिक और कठोर है। इसलिए इसे खड़ी बोली कहा जाता है।

खड़ी बोली का उद्भव—उद्भव में खड़ी बोली के संबंध में एक भ्रम व्याप्त है कि इसका प्रचलन अंग्रेजों के शासन काल में हुआ। वस्तुतः यह भ्रम [illegible] है कि यह भाषा अंग्रेजों से पूर्व की है। यह भाषा अरबी और फारसी के संपर्क की [illegible]। इसका उद्भव उस समय से हुआ जो हरियाणे में इस्लाम के प्रवेश, मुसलमानों के बसने के बाद बोली जाती थी। 11वीं शताब्दी में ग़ज़नवी के हमलों के फलस्वरूप मुस्लिम शासन में इसके विविध रूप का उद्भव मिलता है।

उदाहरणार्थ—'अम्हा हुआ जो मारिया, बहिणि म्हारा कन्तु' में खड़ी बोली की आकारान्त प्रवृत्ति म्हारा, मारिया आदि में दृष्टिगत होती है। 12वीं शती के शीलभद्र सूरि में बिन भाट्या, मन उचट्या, मोनी का आशा किया आदि शब्द मिलते हैं।

इसके अलावा अमीर खुसरो का महत्व खड़ी बोली के कारण है। उनकी पहेली और मुकरियों में तत्कालीन दृष्टि से खड़ी बोली का अधिक विकसित रूप दिखाई देता है। जैसे—'लाखों का सर काट दिया, ना मारा ना खून किया। कबीर की कविता में यदा-कदा खड़ी बोली का प्रभाव लक्षित होता है। जैसे "बड़ा बड़ा प्रेम का बिनका बड़ा अवाग।" में 'बिनका' 'का' आदि शब्द खड़ी बोली के द्योतक हैं।

हिन्दी और उर्दू का सम्मिश्र रूप—हिन्दी और उर्दू की भिन्नता का भान खड़ी बोली की कुछ विकसित अवस्था में होने लगा था। गंगभट्ट की 'चन्द छंद वर्णन की महिमा' नामक कृति में खड़ी बोली का परिमार्जित नहीं तो महत्वपूर्ण रूप अवश्य मिलता है। तख्त, आम, खास, तमाम आदि शब्दों से इस पर उर्दू के प्रभाव का संकेत मिलता है। अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। रामप्रसाद निरंजनी कृत 'योगवासिष्ठ' में उर्दू फारसी के प्रभाव से मुक्त खड़ी बोली गद्य का रूप मिलता है। 1804 में दौलतराम ने रविषेणाचार्य कृत 'जैन पद्मपुराण' का भाषानुवाद किया। भाषा में पंडिताऊपन है। क्रियापद और विराम चिन्हों का शुद्ध प्रयोग यहीं प्राप्त होता है। जटमल की 'गोरा-बादल की कथा' तथा अज्ञात लेखक कृत 'मडोवर का वर्णन' कृतियों में खड़ी बोली गद्य का विकसित रूप मिलता है। इनमें उर्दू तथा

[illegible] के इन कवियों के माध्यम से हिन्दी का प्रचार दक्षिण में हुआ। बाद में [illegible] स्वयं स्वयं स्वयं [illegible] ने अपने धर्म के प्रचारार्थ अनेक पुस्तकों का सृजन किया। हिन्दी प्रचार में [illegible] का योग महत्वपूर्ण है। इन्होंने कई पुस्तकें तथा [illegible] का उपन्यास लिखा। इनका [illegible] हुआ [illegible] है। बीसवीं सदी के प्रथम चरण में राष्ट्रीय चेतना का [illegible] के रूप में भी पड़ा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा जयशंकर प्रसाद के काल में अनेक कवि और लेखकों ने हिन्दी खड़ी बोली को समुन्नत तथा समृद्धिशाली बना दिया था। हिन्दी खड़ी बोली का क्षेत्र आगे बढ़कर इतना विस्तृत और सदाह हुआ कि उसमें कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, पत्र, जीवनियाँ आदि सभी समाहित हो गईं। आधुनिक हिन्दी साहित्य आज का भाषा का प्रतिनिधित्व करता है।

प्रश्न ४७—दक्षिणी भाषा के विकास और साहित्य का परिचय देते हुए खड़ी बोली से उसका सम्बन्ध बताइए।

चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में खड़ी बोली साहित्यिक हिन्दी के विकास में दक्षिण भारत के लेखकों, रियासत के नवाबों और उनके दरबारी कवियों, फकीरों इत्यादि ने महत्वपूर्ण योग दिया है। इस कार्य में मुसलमानों का हाथ अधिक रहने और रचनाओं की लिपि फारसी होने के कारण इसे प्रायः उर्दू समझने की भूल होती चली आई है। यथार्थ में दक्षिणी हिन्दी आधुनिक खड़ी बोली के आदि रूप का विकसित रूप है। प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री डा० बाबूराम सक्सेना ने गम्भीर अध्ययन एवं विवेचन द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि खड़ी बोली के विकास और सृष्टि में दक्षिणी रियासतों ने अत्यन्त महत्वपूर्ण योग देकर उसे मुगल साम्राज्य कालीन राष्ट्रभाषा का रूप देने की कोशिश की थी। खड़ी बोली के हिन्दी के प्राचीनकाल में तीन नाम प्रचलित थे—हिन्दवी, हिन्दी और दक्खिनी। हिन्दी अथवा हिन्दवी शब्द का अर्थ है—हिन्दुओं की भाषा। संस्कृतनिष्ठ हिन्दी से यह भाषा कई बातों में भिन्न है। वास्तव में यह तत्कालीन जनसाधारण की भाषा थी। हिन्दवी शब्द बहुत प्राचीन है। शेख अशरफ, मुल्ला वजही आदि प्रसिद्ध दक्खिनी विद्वानों ने इस भाषा के लिए स्पष्टतः [illegible] शब्द का व्यवहार किया है। इब्न निशाती, रस्तमी आदि लेखकों

यदि तू अपने उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये सन्तोष धारण करके
ार्थना करता है, तो हताश न हो; क्योंकि एक न एक दिन
ू सफलता प्राप्त कर लेगा।

सन्तोषी पुरुष अवश्यमेव सफलताका अधिकारी है, जैसे
कि दरवाजेको खटखटानेवाला प्रविष्ट होनेका भागी है।

अपने पगको उठानेसे पहले उसके रखनेका स्थान देख
ले; क्योंकि यदि पैर फिसलनेके स्थानमें पड़ेगा तो तू फिसल
जायगा।

स्वच्छ जल, जिसे तू पीता है, कहीं तुझे धोखा न दे
क्योंकि कभी कभी उसमें भी गन्दी वस्तु मिली हुई होती है

—मुहम्मद-बिन-वशीर।

मेरी बहादुरी।

मैं सवारोंकी एक ऐसी टोलीसे, जिसमें एक सवार काफ़ी
चक भी है, अकेले ही लड़ाई करता हूँ।

मैं अकेला ही संग्राम नहीं करता, बल्कि इस संग्राममें
मेरा साथी धैर्य भी है।

प्रत्येक दिन मेरा जीवन मुझसे अधिक शूर-वीर साबि
हुआ है और निरन्
अवश्यमेव कोई गुप्त

मैं विपत्तियोंको अपने सिर पर उठानेका ऐसा अभ्यासी हो गया हूँ कि अब विपत्तियाँ मुझसे पृथक् होकर आश्चर्यके साथ कहती हैं कि यह मनुष्य आपदाओंसे न मरता ही है और न भयभीत ही होता है। फिर क्या मौतको मौत आ गई है अथवा भयको ही भयभीत कर दिया गया है? जिसके कारण वे ही इसके पास नहीं फटकते।

मैं पानीके भयंकर भीषण प्रवाहके समान अति भयंकर अवसरों पर भी आगे ही बढ़ता हूँ। मानों मेरे लिये इस जानके अतिरिक्त कोई अन्य जान भी है जिसके कारण मैं इसकी कुछ परवाह ही नहीं रखता। अथवा मुझे इस जानके साथ वैमनस्य है।

तू अपने जीको मत रोक, जिसमें वह अपनी शक्तिके अनुसार प्रत्येक वस्तु प्राप्त कर ले: क्योंकि आत्मा और शरीर दोनों पड़ोसी, जिनका घर आयु है, एक दूसरेसे शीघ्र पृथक होनेवाले हैं।

तू शराब और वेश्याओंको श्रेष्ठताका कारण न जान, क्योंकि वास्तवमें श्रेष्ठता तलवार और प्रत्येक नूतन आक्रमणमें होती है।

इसके अतिरिक्त श्रेष्ठता शत्रु राजाओंका वध करने और इस बातमें है कि तेरे साथ एक ऐसी बड़ी सेना हो जिसके कारण आकाश-मण्डलमें कालिमा छा जाती हो।

तिरस्कार।

तू मृगनयनियों और उनकी चर्चासे विमुख हो जा, दो टूक बात कह और हँसी-ठट्ठेसे मुँह मोड़।

बाल्यावस्थाके समयकी चर्चा छोड़; क्योंकि उस समय का सारा अब टूट चुका है।

वह अति आनन्दमय जीवन जिसको तूने भोगा था, बीत चुका; पर उसका पाप अभी बाकी है।

तू अलबेलीका त्याग और उसकी कुछ परवाह न कर, तो तू मान पावेगा * और तेरी बड़ी आवभगत होगी।

यदि तू मनुष्य है तो मदिराको त्याग। भला पागलपनकी अवस्थामें कोई मनुष्य बुद्धिमानीके साथ उद्योग कर सकता है?

जो मार्गका लुटेरा है वह योद्धा नहीं कहला सकता; बल्कि योद्धा वह है जिसके हृदयमें ईश्वरका भय हो।

तू आलस त्याग और विद्या प्राप्त कर; क्योंकि प्रत्येक प्रकारके गुण बहुत ही दूर रहते हैं।

निद्राको त्याग करके विद्या प्राप्त कर। जो मनुष्य अपने

---

* कान्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति यस्य।
चित्तं...लोक त्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः॥ भर्तृहरिः।

अर्थ—जिस ... छेदने वह तीनों लोकोंको जीतता है।

श्रेष्ठ्यको भली भाँति पहचान लेता है, उसकी दृष्टिमें सारी कठिनाईयाँ अति तुच्छ हो जाती हैं। •

समस्त विद्वान् चल बसे हैं, ऐसा मत कह; क्योंकि जो मनुष्य दरवाजे तक पहुँचेगा वह घरमें अवश्यमेव पहुँच जायगा।

शत्रुओंकी नाक विद्याकी वृद्धिसे कट जायगी; पर विद्याकी शोभा आचरण ठीक रहनेसे ही होगी। †

व्याकरणके अनुसार तू अपनी वक्तृताको सुसंचित कर; क्योंकि जो मात्रा आदिको भली भाँति नहीं जानता, वह वक्तृता-में ठोकर खाता है।

कभी कभी मनुष्य पिताकी कुलीनताके बिना ही कुलीन हो जाता है; जैसे कि ताप देनेसे जंगाल उड़ जाता है और वस्तु निखर आती है।

दरिद्रता और द्रव्य इन दोनों बातोंको छिपा और धन पा, अनुयोगीका ब्योरा ले, कठिन परिश्रम कर और निर्बुद्धि-यों और शासनकर्ताओंकी संगतिसे दूर रह। ‡

फजूलखर्ची और कंजूसीके बीचमें एक मार्ग चुन ले,

कोई भी अति [illegible]

बादशाहसे परे रह और उसकी पकड़से डरता रह; और
जो अपने कथनके अनुसार कार्य करे, उससे मत झगड़।
लोग चाहे तुझे हार्दिक भावसे ही कहें, पर तू न्याय
चुकानेका काम न ले; और ऐसा करनेपर लोग बुरा-भल
कहें तो चुपचाप सुन ले।

यदि न्यायाधीश न्यायसे काम करता है तो आधा संसार
वस्तुतः उसका वैरी हो जाता है।

वह न्यायाधीश ऐसे कैदीके समान हो जाता है जिससे
संसारके सारे स्वाद पृथक् कर दिये जाते हैं और प्रलयके
बाद न्यायार्थ जिसकी मुश्कें कसी जायँगी।

न्यायाधीश बनकर न्याय चुकानेका स्वाद उस कड़वे
बराबर नहीं है जो उद्दंडताके साथ पृथक् किये जानेके समय
होता है।

जिन्होंने शासन करनेका स्वाद चक्खा, उन्हें वह स्वादिष्ट
लगा; पर इस मधुमें विष है।

संसारमें अपनी आवश्यकताएँ थोड़ी कर तो सफल होगा;
और आवश्यकताकी न्यूनता विद्वत्ताका चिह्न है। *

---

* [क] "And in simplicity sublime"—टेनिसन।
अर्थ—सादेपनमें महत्ता
[ख] The Fewer the wants of a man, the nearer he
to the God.
अर्थात् जिस मनुष्यकी आवश्यकताएँ जितनीही कम हैं, वह ईश्वरके उतना

अपने मित्रसे कभी कभी मिला भी न कर जिसमें तू उसको प्रेममय पावे; और जो मित्र बहुत पास आता-जाता रहता है उसको अवश्यमेव दुःखी होना पड़ता है। *

तू तलवारके फलसे अपना मनलय रख और उसके म्यान को छोड़। मनुष्यकी श्रेष्ठताको ग्रहण कर न कि उसके वस्त्रोंको।†

सायंकालके समय डूब जानेसे सूर्यको जिस प्रकार धब्बा नहीं लगता, उसी प्रकार निर्धनतासे गुणवान्को भी कुछ हानि नहीं पहुँचती। ‡

तेरा देश-प्रेम एक खुला बोदापन है। यदि तू यात्रार्थ विदेशमें जायगा, तो कुटुम्बियोंके बदले तुझे कुटुम्बी मिल जायँगे। +

पानी एक स्थान पर ठहरे रहनेसे बदबूदार हो जाता है; और दूजका चन्द्रमा यात्राके कारण पूर्ण चन्द्र बन जाता है।

---

* [क] Familiarity breeds comtempt.

कहावत

[ख] "अतिपरिचयादवज्ञा"

अति परिचयसे निरादर होता है।

[ग] "माल घरै निकसै घर आवे"

† गुणेनास्पदलीयस्य न रूपेण।

गुणसे कोई स्पृहणीय होता है, न कि रूपसे।

‡ गुणयुक्तो दरिद्रोऽपि।

नेश्वरैरगुणैः समः।

गुणवान् दरिद्र भी अगुण धनियोंके समान होता है

+ देशे देशे च वास्तव्यः —रामायण।

हर देशमें बन्धु मिल जाते हैं।

हे मेरे कथनमें अवगुण निकालनवाले ! जान ले कि गुलाबकी सुगन्धि भी गुबरीलेके लिये दुःखदायी होती है।

तू किसीकी कोमल बातोंसे धोखेमें न आ जा; और जान ले कि सर्पके कोमलापनसे पृथक् रहना ही उचित है।

मैं पानीके समान शीतल स्वभाववाला हूँ। परन्तु जब वह गर्म हो जाता है तब कष्ट देता है और घातक बन जाता है।

मैं बेतके समान लचकदार हूँ और हर ओर मोड़ा जा सकता हूँ। पर बेतके समान ही मेरा टूटना कठिन है। *

मैं ऐसे समयमें हूँ जिसमें श्रीपतिको उच्च समझा जाता है, उसका सम्मान करना परम धर्म्म समझा जाता है और निर्धनको तुच्छ माना जाता है।

मेरे सारे सहयोगियोंमेंसे एक भी अनुभवी नहीं है और न मैं ही अनुभवी हूँ। बस इस सूत्रकी व्याख्या मुझसे न पूछो।

—

✓कालने अब मुझको रुलाया। परन्तु मुझको असंख्य
कालने मनभावनी वस्तुओंके साथ हँसाया है।

—

* इसका ठीक अनुवाद यों है—I would rather break
नहीं करूँगा, बल्कि टूट जाऊँगा।

निर्वेद ।

मुझसे लोग कहते हैं कि तुम कुछ विरक्तसे मालूम होते हो। पर सच तो यह है कि अपमानयुक्त स्थानसे पीछे रहनेके कारण ही मैं लोगोंकी दृष्टिमें कुछ विचित्रसा मालूम होता हूँ।

मैं संसारके मनुष्योंमें यह बात पाता हूँ कि जो उनके निकट होता जाता है, वह तुच्छ हो जाता है; और जो अपना मान आप करता है, वह प्रतिष्ठाका भागी ठहरता है।

यदि तनिकसे लालचके स्थानमें मैं विद्याको सीढ़ी बना कर पहुँचा करूँ, तो वास्तवमें विद्याके दायित्वकी मैंने शर्त ही नहीं की।

निरसन्देह कौन्दनेवाली प्रत्येक बिजुल मुझे लाभ नहीं पहुँचाती। मैं प्रत्येक मिलनेवालेका कृपापात्र बनना नहीं चाहता।

जब कि मुझसे किसीके विषयमें कहा जाता है कि यह दानका स्रोत है, तो मैं हाँमें हाँ मिला देता हूँ। पर कुलीनकी आत्मा त्रासको सहन करती है।

जो वास्तवमें कुछ अनुचित नहीं है, मैं उससे भी अपने आपको बचाये रखता हूँ, जिसमें मेरे शत्रुओंको यह कहनेका अवसर न मिले कि तुमने क्यों ऐसा किया।

मैंने विद्याकी सेवामें इसलिये जान नहीं खपाई कि जो मिल जाय, उसीका दास बन जाऊँ, बल्कि इसलिये कि लोग मेरी सेवा किया करें।

क्या मैं विद्याका पौधा लगानेके लिये (अर्थात् विद्याई प्राप्तिके लिये) तो असीम कष्ट उठाऊँ और फिर उससे अपमान का फल चुनूँ ? इससे तो मूढ़ताकी ही अधीनतामें रहना बड़ी गूढ़ विद्वत्ता है।

यदि विद्वान लोग विद्याको अपमानसे सुरक्षित रखते तो विद्या भी उन्हें अपमानसे सुरक्षित रखती; और विद्वान् लोग यदि लोगोंके हृदयोंमें विद्याका सिक्का बैठाते, तो विद्या भी विद्वानोंका सिक्का जमा देती।

परन्तु उन्होंने उसका अपमान किया और उसके सुन्दर स्वरूपको लालचसे कुरूप कर दिया; यहाँ तक कि विद्या सूरत भोंडीसी हो गई।

—एक कवि

इस संसारमें कोई ऐसा नहीं है जिससे भला आशा रक्खी जाय; और न कोई मित्रही ऐसा है जो समयमें साथ दे जब कि कालचक्र धोखा दे बैठता है।

सो अकेले ही [illegible] कर और किसी पर भरोसा [illegible] है।

—एक कवि

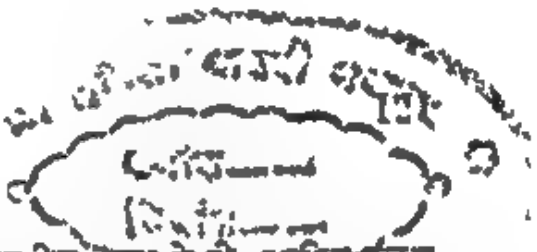

तसिंह

गे ?"

ड़वी सचाई है कि हम भारतीय सदा से ही व्यक्ति-पूजक
ए हमने महात्मा गांधी को भी पूज्य बना दिया। हममें से
न उनके अन्धभक्त हैं। उनकी आलोचना करना हम अपराध
वु सत्य सदा सत्य ही रहता है, चाहे सारी दुनिया एक तरफ
सत्य हमेशा सत्य ही रहता है। जब मनुष्य स्वार्थ अथवा
न नहीं हो पाता, तो उसे सत्य दिखाई नहीं पड़ता; उसकी
नहीं देख सकतीं; सत्य पर पर्दा पड़ जाता है। सत्य के दर्शन
है, जब मनुष्य उस विषय के प्रति, जिसके विषय में उसे
, एक न्यायाधीश की तरह अपने-पराये, मत-मतान्तर आदि
मुक्त होकर उसे देखे; हर प्रकार के स्वार्थ अथवा पूर्वाग्रहों से
।

धीजी एक युगपुरुष रहे हैं, वह एक पूर्ण मानव थे, भारतीय
नका एक अद्वितीय स्थान रहा है, उनका सत्य तथा अहिंसा
वना के लिए एक उदात्त भावना है; तथापि इतिहास की
टनाओं के लिए स्वतन्त्र विचार करनेवाले भारतीय उन्हें कभी
पाएँगे—प्रथम घटना गांधी-इरविन समझौते में भगतसिंह,
सुखदेव के साथ उनका न्याय न करना तथा द्वितीय नेताजी
स को कांग्रेस का अध्यक्ष-पद छोड़ने को बाध्य करना। इसी
के लिए तब कराँची जाने पर रेलवे स्टेशन पर ही नौजवान

उनकी बातें हुईं। उन्होंने अपनी माँ से कहा—"माँ, दादाजी अब ज्यादा दिन नहीं जिएँगे, आप बंगा जाकर उन्हीं के पास रहना, उनकी सेवा करना।"

माँ ने एक वीरांगना की तरह पुत्र को उसके कर्तव्य की शिक्षा दी। शायद उनके मन में यह बात रही हो कि उनका बेटा अन्तिम क्षणों में कहीं मृत्यु से भयभीत न हो जाए, अतः उन्होंने कहा—"बेटे अपनी बात पर अड़े रहना, एक न एक दिन सभी को मरना है, किन्तु मृत्यु वही है, जिसे सारी दुनिया देखे, जिसकी मृत्यु पर सब रो उठें, उसी का मरना सफल है। मुझे गर्व है कि मेरा पुत्र श्रेष्ठ आदर्श एवं कार्यों के लिए अपने प्राणों को न्यौछावर कर रहा है। मैं हृदय से चाहती हूँ कि तुम फाँसी के तख्ते पर खड़े होकर 'इन्कलाब जिन्दाबाद' के नारे लगाओ। तुम्हारा काम घटे नहीं; बल्कि आगे को बढ़ता रहे।"

सचमुच माँ विद्यावती एक वीर भारतीय महिला है। आखिर ऐसी वीरप्रसू माँ का पुत्र भला भगतसिंह की तरह क्यों न होता। उनका यह देश-प्रेम; ऐसा स्वाभिमान विरली ही माताओं में पाया जाता है। क्या कोई साधारण स्त्री अपने पुत्र को ऐसा उपदेश दे सकती है।

इसके बाद भगतसिंह की अपने पिता से कुछ बातचीत हुई। इस बातचीत में हमें एक पिता के पुत्रस्नेह तथा भगतसिंह की मृत्यु के प्रति निर्भीकता दिखाई देती है—

पिता—बेटे! शायद एक बार फिर भेंट हो।

भगतसिंह—क्या आपने कुछ सुना है?

पिता—हाँ।

भगतसिंह—क्या?

किशनसिंह—तुम्हारी, राजगुरु तथा सुखदेव की फाँसी की सजा नहीं बदली है। गांधी-इरविन समझौते के अनुसार केवल काग्रेसी बन्दी ही रिहा होंगे; कोई भी क्रान्तिकारी बन्दी नहीं छोड़ा जाएगा। वाइसराय चाहें तो अपने अधिकार का प्रयोग करके फाँसी की सजा को बदल सकता है, किन्तु वह ऐसा करने को राजी नहीं है।

भगतसिंह—मैं शुरू से ही कह रहा हूँ कि हमारी सजा को कोई भी

उन्होंने यहाँ तक नहीं सोचा था कि आखिर अंग्रेज सरकार ऐसा भी नहीं होने देगी।

फाँसी से पहले :

अन्त में 23 मार्च, 1931 का वह मनहूस दिन भी आ गया, जब इन वीरों को फाँसी की सजा दी जानी थी। भगतसिंह ने जेल में ही अपने वकील से लेनिन की जीवनी मँगा ली थी। खाली समय में पुस्तकें ही उनकी दोस्त थीं। वह लेनिन की जीवनी पढ़ने में डूबे हुए थे। एकदम निश्चिन्त; भय अथवा घबराहटता का उनके चेहरे पर कोई चिह्न नहीं था, किन्तु जेलर खानबहादुर मोहम्मद अकबर के मन और मस्तिष्क में विचारों का बवण्डर उठ रहा था। शायद वह सोच रहा था, काश वह भगतसिंह को बचा सकता। काश नौकरी से उसके हाथ बँधे न होते। उसके सामने बार-बार इन वीरों के चेहरे आ जाते थे, दिल में एक बेचैनी-सी होने लगती; एक तूफान-सा उठने लगता; एक लावा-सा उबल रहा था उसके अन्दर, जिसे कोई देख नहीं सकता था, वह स्वयं भी, पर उसका अनुभव कर रहा था वह, एक ऐसा अनुभव, जिसे बयान नहीं किया जा सकता। दोपहर का समय था, सूर्य आकाश के बीच में पहुँच चुका था। कुछ ही देर पहले भगतसिंह ने रसगुल्ले मँगाकर खाये थे। तभी जेल के सहायक जेलर ने कैदियों को अपनी-अपनी कोठरियों के अन्दर चले जाने को कहा। कैदियों की समझ में कुछ भी नहीं आया कि यह क्या हो रहा है; अभी तो एकदम दोपहर थी, जबकि शाम को ही उन्हें कोठरियों में बन्द किया जाता था। इसका क्या अर्थ हो सकता है; सब अपनी-अपनी अक्ल के घोड़े दौड़ा रहे थे। तभी जेलर मोहम्मद अकबर वहाँ पहुँचा और 14 नम्बर की बैरक के सामने जाकर खड़ा हो गया। सभी कैदी उसके चेहरे की ओर देखने लगे; जैसे पूछना चाह रहे थे कि आखिर बात क्या है ? परन्तु उसका चेहरा देखकर किसी को भी पूछने का साहस न हुआ। उसके चेहरे को देखकर लगता था, जैसे वह अत्यधिक तनाव में था, कोई बात थी, जो उसके अन्दर ही अन्दर घुमड़ रही थी; वह कोई फैसला नहीं कर पा रहा था। कैदियों की ओर देखकर उसके मुँह से केवल इतना ही निकला था कि वे चाहे तो बन्द न हों

नहीं बदलेगा। फाँसी का फन्दा हमारे गले में अवश्य डाला जाएगा। इसमें कोई नई बात नहीं है।

पिता—मैंने कुछ और सुना है।

भगतसिंह—वह क्या?

पिता—महात्मा गांधी ने कह दिया है कि यदि इन तीनों नौजवानों को फाँसी पर चढ़ाना है, तो यह काम कांग्रेस के कराची अधिवेशन से पूर्व ही हो जाना चाहिए।

भगतसिंह—यह अधिवेशन कब तक हो रहा है?

पिता—इसी महीने के आखिर में।

भगतसिंह—यह तो बड़ी खुशी की बात है। मनियाँ आ रही है, मैं इसे कालकोठरी की आग में जलाने से तो मर जाना बेहतर समझता हूँ। मैं पुनः भारत में जन्म लूँगा और हो सकता है कि फिर एक बार अंग्रेजों के साथ टक्कर लेनी पड़े। मेरा देश भारत अवश्य आजाद होगा।

इसके बाद पिता ने भी पुत्र को हिम्मत न छोड़ने की शिक्षा दी। भगत सिंह ने इसके बाद अपने छोटे भाई-बहिनों से कहा—"हिम्मत से काम लेना, साथ ही मेरी मौत के बाद देश और जनता की सेवा में कुछ न कुछ करना। आवश्यकता पड़ने पर देश के लिए बलिदान हो जाने से भी पीछे न हटना।" अन्त में फिर अपनी माँ को पास बुलाकर कहा—"माता जी! आप दुःख न करना, कुलवीर को भेज देना, कहीं आप भी पड़ें, तो कहेंगे कि भगत की माँ रोती थी।" इतना कहकर वे उठाने आकर हँस पड़े थे। [illegible] इस बात को देखकर उसे [illegible] हो; इतना धैर्य, ऐसा साहस अन्य [illegible] है। इसके बाद परिवार के अन्य सदस्यों से [illegible] फिर कभी न मिलने के लिए। कहीं उनकी आँखें न [illegible] इसके बाद उसके [illegible] के [illegible] [illegible] के अन्त में [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

आप तैयार हो जाएँ।"

उनकी नजर किताब पर से नहीं हटी, पढ़ते-पढ़ते वह बोले, "एक क्रान्तिकारी दूसरे क्रान्तिकारी से मिल रहा है।" थोड़ी देर तक किताब के उस भाग को पढ़ लेने पर उन्होंने किताब ऊपर को उछाल दी और बोले, "चलो।" और वह कोठरी से बाहर आ गए।

फाँसी के तख्ते की ओर ले जाने से पहले जेल के अधिकारियों ने इन तीनों वीरों, भगतसिंह, राजगुरु तथा सुखदेव से जेल के नियमों के अनुसार काले कपड़े पहनने को कहा गया, लेकिन भगतसिंह इसके लिए राजी न हुए और उन्होंने कहा, "मैं चोर, लुटेरा, डाकू, खूनी या कोई मामूली अपराधी नहीं हूँ, मैं एक राजनीतिक कैदी हूँ, एक क्रान्तिकारी हूँ।" इस पर चीफ वार्डन तथा उप-अधीक्षक की कुछ भी कहने की हिम्मत न हुई, अतः उन्होंने इस मामले में दारोगा तथा अधीक्षक से रिपोर्ट की। तब दारोगा अकबर खाँ उनके पास आया। उसने उनसे मिन्नत की कि वे जीवन के अन्तिम समय में इस प्रकार का व्यवहार न करें। तब भगतसिंह मान गये।

तीनों क्रान्तिकारी कोठरी से बाहर निकले। उन्होंने एक-दूसरे को देखा; तीनों आपस में गले मिले। तीनों हँस रहे थे। कैसी विडम्बना थी कि जिन्हें फाँसी दी जा रही थी, वे हँस रहे थे, उनके चेहरे खिले हुए थे; गम का कोई भी निशान उनके चेहरों पर न था; वे सीना फुलाये हुए अकड़ कर मस्ती से झूमते हुए चल रहे थे, परन्तु जेल के उन अधिकारियों के चेहरों पर मुर्दनी-जैसी छायी हुई थी। जो उन्हें ले जा रहे थे; उनके चेहरों पर दुःख और अवसाद की रेखाएँ साफ दिखाई दे रही थीं। भगतसिंह बीच में थे, राजगुरु दाहिनी ओर थे तथा सुखदेव बाईं ओर। भगतसिंह की दोनों भुजाओं में अन्य दो साथियों की भुजाएँ थीं। तीनों ही मौज में एकदम बेखबर-से लग रहे थे और झूम-झूमकर गा रहे थे—

दिन में निकलेगी न मरकर वतन की उलफत।
मेरी मिट्टी से भी खुशबू-ए-वतन आएगी॥

सारा माहौल गमगीन हो चला था, परन्तु इन देशभक्तों के चेहरों से एक विचित्र तेज चमक रहा था। ये भारत माता के ये लाडले सपूत जेल के अधिकारियों एवं कर्मचारियों से घिरे हुए बढ़ चले महाप्रयाण की ओर;

फाँसी के फन्दे को गले लगाने।

महाप्रयाण तथा अन्तिम क्रिया :

शाम छः बजकर पैंतालीस मिनट पर ये तीनों फाँसी दिये जाने जगह पर पहुँच गये। उस समय जेल अधीक्षक, आई० जी० पुलिस, कमिश्नर लाहौर तथा आई० जी० जेल भी वहाँ उपस्थित थे। तीनों बुलन्द आवाज में नारे लगाने लगे—'इन्कलाब जिन्दाबाद', 'सा साम्राज्यवाद का नाश हो', 'राष्ट्रीय झण्डा ऊँचा रहे', 'डाउन-वि यूनियन जैक'। इन नारों को जेल के अन्य कैदियों ने भी सुना, तब उन्ह अनुमान लगाया कि इन महान क्रान्तिकारियों की महाप्रयाण की वेला गई है, अतः उन्होंने अपनी-अपनी कोठरियों से ही ऊँची-ऊँची आवाजों इन नारों को दुहराया तथा नारों को दुहराकर ही उन्हें अपनी श्रद्धांजलि दी।

जब तीनों फाँसी के तख्ते के पास पहुँचे, तो फाँसी के नियमों के अनुसार डिप्टी कमिश्नर वहाँ पर खड़ा था। भगतसिंह तथा उनके साथियों को हथकड़ी नहीं लगायी गयी थी, क्योंकि जेलर से उन्होंने पहले ही कह दिया था कि उन्हें हथकड़ी न लगायी जाए तथा मुँह पर काला कपड़ा न चढ़ाया जाए। जेलर इनकी इस अन्तिम इच्छा को मान गया था, किन्तु इस समय उन्हें इस प्रकार देखकर डिप्टी कमिश्नर यकायक सहम गया, तब जेलर मोहम्मद अकबर ने उन्हें सारी बात बतायी और विश्वास दिलाया कि वे कुछ नहीं करेंगे। फाँसी के तख्ते पर चढ़ने से पहले भगतसिंह ने अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर को सम्बोधित करते हुए कहा, "मजिस्ट्रेट ! तुम भाग्यशाली हो, जो आज तुम्हें यह देखने का अवसर मिला है कि भारतीय क्रान्तिकारी किस तरह प्रसन्नता से अपने सर्वोच्च आदर्शों के लिए मौत को भी गले लगा सकते हैं।"

निःसन्देह जीवन के अन्तिम क्षणों में भी इस प्रकार के आदर्शों पर अडिग रहनेवाले भगतसिंह की बात को सुनकर मजिस्ट्रेट प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका होगा। मजिस्ट्रेट से इतना कहने के बाद वह फाँसी के तख्ते पर चढ़ गये। तीन फन्दे टँगे हुए थे। वहाँ भी तीनों उसी क्रम के बीच में

गतसिंह दाहिनी ओर राजगुरु तथा बाँये सुखदेव खड़े हो गये। तीनों ने कर गरजती आवाज में नारे लगाए—

'इन्कलाब जिन्दाबाद'

'साम्राज्यवाद मुर्दाबाद'

तीनों ने फन्दे की ओर देखा, मुस्कराये, उसे चूमा और गले में डाल लिया, जैसे रणभूमि में जाने के लिए फूलों की माला डाल रहे हों। भगत सिंह ने जल्लाद से फन्दों को ठीक कर लेने को कहा। शायद उसने ये शब्द अपने जीवन में पहली बार सुने थे। साधारण अपराधियों को तो तख्ते पर चढ़ने में ही पैर लड़खड़ाने लगते हैं, परन्तु भगतसिंह फन्दा ठीक करने को कह रहे थे। जल्लाद ने फन्दे ठीक किये। चर्खी घुमाई। तख्ता हटा और ये तीनों वीर मातृभूमि की बलिवेदी पर शहीद हो गये। भारत भूमि की आजादी के लिए एक चमकता हुआ सूर्य सदा-सदा के लिए अस्त हो गया।

सरकारी तार के अनुसार यह फाँसी शाम 7 बजे दी जानी थी। श्री मन्मथनाथ गुप्त ने लिखा है कि यह फाँसी सात बजकर पन्द्रह मिनट पर दी गयी। कुछ दूसरी पुस्तकों में यह समय साढ़े सात बजे अथवा सात बजकर तैंतीस मिनट लिखा हुआ है। यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि सामान्य तौर पर फाँसी सुबह दी जाती है, जबकि भगतसिंह के मामले में इस नियम का पालन नहीं किया गया। उन्हें रात में फाँसी दी गयी। फाँसी के बाद व्यक्ति का मृत शरीर उसके घरवालों को सौंप दिया जाता है, किन्तु इन महान क्रान्तिकारियों के घर इस बात की सूचना भी नहीं दी गई कि उन्हें फाँसी दी जा रही है। इससे अधिक जालिमाना हरकत और क्या हो सकती है। कहा जाता है कि इन वीरों के शरीरों को काटकर छोटे-छोटे टुकड़े कर दिये गए। इन टुकड़ों को बोरों में भर दिया गया, किन्तु अपने इस नीच कर्म के कारण अंग्रेजी सरकार खुद कितनी डरी हुई थी, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि इन बोरों को जेल के मुख्य दरवाजे से बाहर लाने की हिम्मत अंग्रेजों की नहीं पड़ी। अंग्रेज स्वयं अपराधी थे, जबकि सच्चाई तो यह थी कि इन वीरों ने कोई अपराध नहीं किया था; अपनी मातृभूमि के लिए; उसकी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करना कौन-सा अपराध था कि वे विदेशी अंग्रेजों को देश से बाहर खदेड़ना

चाहते थे। इसी काम के लिए उन्हें फांसी हुई थी। सम्भवत: जेल के पिछले दरवाजे से इन बोरों को बाहर निकाला गया। प्रसिद्ध क्रान्तिक श्री मन्मथनाथ गुप्त ने लिखा है कि "इस भय से कि यदि शवों को जेल बाहर ले जाया गया, तो हो सकता है कि क्रान्तिकारियों का कोई छि साथी देख ले। जेल की पिछली दीवार तोड़कर शवों को तुरन्त जलाने लिए फीरोजपुर ले जाया गया।"

यह सब काम रातों-रात चोरी छिपे किया गया। इधर लाहौर सेंट्र जेल में यह सब हो रहा था, उधर भगतसिंह के पिता सरदार किशनसि लाहौर में ही मोरी दरवाजे के मैदान में भाषण सुन रहे थे। वहीं किसी उन्हें इस फांसी की सूचना दी। लोग गुस्से से पागल हो उठे, उन्होंने भी को किसी तरह समझा-बुझाकर शान्त किया और स्वयं तेजी से जेल की तरफ कदम बढाये। इस पर भी कुछ लोग उनके पीछे हो लिये, किन्तु उनका वहाँ पहुँचना बेकार ही रहा, जेल का ट्रक पहले ही रवाना हो चुक था। यह ट्रक पहले कसूर पहुँचा। सब कुछ पहले ही बनी योजना के अनुसार हो रहा था। वहाँ से एक सिख ग्रन्थी तथा एक हिन्दू पण्डित को साथ लिया गया। ये सब फिरोजपुर के पास सतलुज नदी के किनारे पहुँचे। ट्रकों से लाशों के बोरे उतारे गये। फिर आधी रात के समय उन बोरों पर मिट्टी का तेल छिड़ककर आग लगा दी गई, ताकि शव शीघ्र जल जाएँ।

लाशें जलने लगीं। प्रचण्ड अग्नि से सारा वातावरण आलोकित हो उठा। साथ आया अंग्रेज अधिकारी बोला, "अब मैं जाता हूँ। जब यह जल जाए, तो राख को नदी से बहा देना।" उसके जाने के बाद बाकी लोग भी शायद डरे हुए थे; उन्होंने अधजले टुकड़े जल्दी-जल्दी नदी में डाल दिये। पुलिस वालों को इससे क्या अन्तर पड़ता था। उन्होंने बाल्टी से पानी डालकर राख भी नदी मे बहा दी। जहाँ पर चिताएँ लगी थीं, उस स्थान को बालू-मिट्टी आदि से ढक दिया गया।

तब तक शायद समीप के गाँववालों को इस सब घटना का पता लग चुका था, वे हाथों में मशालें लेकर सतलुज के तट की ओर चल पड़े। मशालों को अपनी ओर आता देखकर इन [illegible] ने आये जेल के

कर्मचारी आदि ट्रकों में बैठकर नौ-दो ग्यारह हो गये। गाँववालों की भीड़ वहाँ पहुँची। शायद उन्हें विश्वास हो गया था कि शवों को ठीक ढंग से नहीं जलाया गया है। श्री मन्मथनाथ गुप्त के अनुसार "गाँववालों ने शवों को नदी से निकाला तथा फिर पूरे नियम से उनका दाह-संस्कार किया।"

दूसरे दिन प्रातःकाल से ही वहाँ लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गई। वह स्थान भारतीयों के लिए तीर्थस्थान बन चुका था, अतः जिसके हाथ भी मिट्टी, धूल, खून से सने पत्थर या हड्डियों के टुकड़े जो लगा, उन्होंने उठा लिये।

अंग्रेज सरकार ने अपनी ओर से दूसरी सुबह केवल एक औपचारिकता पूरी करने के लिए जनता के लिए यह सूचना दी। लाहौर के जिलाधीश की ओर से दीवारों पर 24 मार्च को निम्नलिखित पोस्टर चिपकाये गये—

"जनता को सूचना दी जाती है कि भगतसिंह, राजगुरु तथा सुखदेव के शव, जिन्हें कल 23 मार्च को शाम के समय फाँसी दे दी गयी थी, जेल के बाहर सतलुज के तट पर ले जाये गये और वहाँ सिखों तथा हिन्दुओं के रीति-रिवाजों के अनुसार उनका संस्कार कर दिया गया और उनकी अस्थियों को नदी में डाल दिया गया।"

दूसरे दिन यह समाचार पूरे देश में फैल गया।

फाँसी पर देश की प्रतिक्रिया :

इस समाचार से पूरे देश में एक तूफान उठ खड़ा हुआ। सारे देश में 24 मार्च को शोक-दिवस घोषित किया गया। सारा देश शोक के सागर में डूब गया। लाहौर में प्रशासन ने यूरोपीय स्त्रियों को दस दिन तक बाहर न निकलने की सलाह दी। बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता जैसे महानगरों का माहौल चिन्तनीय हो उठा। कलकत्ते में सशस्त्र पुलिस सड़कों पर गस्त लगा रही थी, फिर भी वह प्रदर्शनों को न रोक सकी, जगह-जगह पुलिस से उनकी मुठभेड़ें हुईं, कई व्यक्ति मारे गये, इससे भी अधिक घायल और गिरफ्तार किये गए।

क्रान्तिकारियों की चिताओं के कुछ अवशेषों को जयदेव गुप्ता तथा

थीं अमरकोर लाहौर से आये। इनका जुलूस निकाला गया। हजारों लोगों ने इनके दर्शन किये। देश-भर के समाचार पत्रों ने इन महान आत्माओं को श्रद्धांजली देते हुए लेख लिखे। जगह-जगह शोक-सभाएं हुईं, सरकार की क्रूरता तथा गांधी-इरविन समझौते की कटु आलोचना हुई। इस शोकपूर्ण वातावरण में लाहौर के 'ट्रिब्यून' ने लिखा—

"भारत में अंग्रेजी सरकार ने जो कुछ गलतियां की, वे महत्व और गंभीरता की दृष्टि से उन गलतियों के समान है, जो उसने भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव के मृत्यु-दण्ड को न बदलने में की है।

लाहौर के उर्दू अखबार पयाम ने 3 अप्रैल, 1931 को लिखा—

"भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को फांसी दे दी गई है। सिर्फ तीन जानें गई हैं, लेकिन उन्हें 23 करोड़ हिन्दुस्तानी प्यार करते थे। उनका खून करके ब्रितानवी हुकूमत ने सारे हिन्दुस्तान की मर्दानगी को ललकारा है। अगर हिन्दुस्तान इस चुनौती को स्वीकार करता है, तो इंगलैण्ड का भविष्य अंधेरे से भर जायगा। और, अगर वह इसे मंजूर नहीं करता तो उसे अपने भविष्य से हाथ धोना पड़ेगा। शहीदों ने हमें शहादत का अनोखा रास्ता दिखाया है और हमें उनके दिखाये रास्ते पर चलना चाहिए। इंगलैण्ड ने सारे हिन्दुस्तान की इबादत को ठुकरा दिया है। इसका जवाब सिसकियों और अश्कों से नहीं दिया जा सकता, क्योंकि ये कमजोरी के हथियार है। ब्रितानवी हुकूमत में दयानत, आदमियत और उदारता नहीं है। यह शैतान हुकूमत है, जो सिर्फ जोर के आगे झुकती है। तुममें ताकत है, इसका सही इस्तेमाल करो। ब्रितानवी हुकूमत, ब्रितानवी तिजारत, ब्रितानवी इल्म का बहिष्कार करो और ब्रितानिया बेइज्जत होकर तुम्हारे कदमों पर गिरेगा और उसे शहीदों के खून की कीमत चुकानी पड़ेगी। भगतसिंह के खून की कीमत इससे कम नहीं है कि हिन्दुस्तान आजाद हो, क्योंकि उसके बिरादरान ने हिन्दुस्तान की आजादी के लिए अपनी जानें दी हैं। जब पूरे आजाद एशिया का खून एक आम अंग्रेज के खून की कीमत नहीं चुका सकता, तब गुलाम भारत के फर्जमन्द बेटों जिन पर पुलिस अफसर के खून का इल्जाम था, के खून को कैसे मुआफ किया जा सकता है। लेकिन अगर एक आम अंग्रेज की जान इतनी

कीमती है, तो क्या हिन्दुस्तान भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव की कीमत कम समझता है, जिनका अंग-अंग देशभक्ति और पाक शहादत से भरा हुआ था। ब्रितानिया को इसका जवाब काम करके दो, अल्फाजों से नहीं। हिन्दुस्तान इन तीन शहीदों को पूरे ब्रितानिया से ऊपर समझता है। अगर हम हजारों-लाखों अंग्रेजों को भी मार गिराएँ, तो भी हम पूरा बदला नहीं चुका सकते। यह बदला तभी पूरा होगा, अगर हिन्दुस्तान को आजाद करा लो, तभी ब्रितानिया की शान मिट्टी में मिलेगी। ओ भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव! अंग्रेज खुश हैं कि उन्होंने तुम्हारा खून कर दिया है, लेकिन वो गलती पर हैं। उन्होंने तुम्हारा खून नहीं किया, उन्होंने अपने ही भविष्य में छुरा घोपा है। तुम जिन्दा हो और हमेशा जिन्दा रहोगे।"

भारत ही नहीं विदेशी अखबारों ने भी अंग्रेज सरकार के इस काम की आलोचना की थी। न्यूयार्क के समाचार-पत्र 'डेली वर्कर' ने लिखा था—

"लाहौर के तीन कैदी, भगतसिंह, राजगुरु तथा सुखदेव, जो भारत की आजादी के लिए लड़ रहे थे, अंग्रेजी साम्राज्यवाद के हितों के लिए अंग्रेज मजदूर सरकार द्वारा खत्म कर दिये गए। मैकडोनल्ड के नेतृत्व में अंग्रेजी मजदूर सरकार द्वारा की गई यह सबसे पहली खूनी कार्यवाही है, तीन भारतीय क्रान्तिकारियों की मृत्यु पूर्वनिश्चित राजनीतिक योजना के अनुसार मजदूर सरकार की आज्ञा पर यह स्पष्ट करती है कि अंग्रेजी साम्राज्यवाद को बचाने के लिए मैकडोनल्ड सरकार कितनी दूर जा सकती है।"

तब इंगलैण्ड में मजदूर दल की सरकार थी और रैमजे मैकडोनल्ड उसके प्रधानमन्त्री थे। इंगलैण्ड की मजदूर पार्टी अपने को मजदूर वर्ग का शुभचिन्तक मानती है। यह इस पत्र में इस पार्टी के कार्यों की खुलकर निन्दा की गई है तथा क्रान्तिकारियों को देशभक्त कहा गया है। कई-एक विदेशी समाचार-पत्रों ने भी उनकी इस तरह प्रशंसा की थी; इससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत ही नहीं विदेशों में भी उनके कार्यों की प्रशंसा करनेवाले व्यक्ति थे, वस्तुतः वह एक महान वीर

थे, उनकी मृत्यु के बाद बंगाल में 'भगतसिंह की वीरता' नामक एक त
पुस्तक भी छपी थी, किन्तु बंगाल की अंग्रेज सरकार इसे कैसे बर्दाश्त क
सकती थी; अतः यह पुस्तक जब्त कर ली गई। इसी प्रकार की एक
छोटी-सी पुस्तक पंजाब में भी प्रकाशित हुई, जिसमें भगतसिंह के वीरता-
पूर्ण कार्यों और उनके बलिदान का वर्णन किया गया था। इसे भी पंजाब
सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया था।

इस शहादत पर सरकार के विरोध में बंगाल के राष्ट्रवादी दलों ने
विधान सभा का बहिष्कार किया। उस समय सदन में वित्त विधेयक पर
बहस हो रही थी। कांग्रेस को छोड़कर अन्य सभी दलों ने सरकार के इस
कार्य पर अपनी आपत्ति प्रकट की थी।

शहीद भगतसिंह के गाँव बंगा में लोगों ने अपने खून से लिखकर
ली थी कि वे भगतसिंह की फाँसी का बदला लेंगे। पंजाब के कई स्था
पर किसानों ने भूमि कर देने से इन्कार कर दिया। इसका कारण पू
जाने पर उन्होंने बताया कि उन्हें भगतसिंह की आत्मा ने दर्शन दिये औ
टैक्स न देने को कहा। 13 अप्रैल, 1931 को अमृतसर के जलियांवाला
बाग में एक सभा हुई, जिसे सम्बोधित करते हुए डॉ० सैफुद्दीन किचलू ने
कहा कि लोगों को संघर्ष के लिए तैयार रहना चाहिए। उन्होंने पुलिस-
वालों से भी प्रार्थना की कि यदि उन्हें जनता पर ज्यादतियाँ करने का
आदेश मिले, तो वे नौकरी छोड़ दें। इस सभा के अध्यक्ष श्री इमामुद्दीन
ने विदेशी कपड़ों का बहिष्कार करने को कहा। देखते ही-देखते विदेशी
वस्तुओं की होली जल उठी। आने-जानेवाले लोगों ने भी इसमें कोई-न-कोई
विदेशी चीज डालकर भाग लिया। पूरे पंजाब में 'बेईमान सरकार को
तबाह कर दो', 'हम टैक्स नहीं देंगे', आदि नारे सुनाई देने लगे। स्वामी
योगानन्द ने घोषणा की—"हम कर नहीं देंगे, देशवासियो गदर करो,
रात को पुलिस थाने लूटकर जला दिये जाएँगे...।" बहादुरगढ़ में
शिवकुमार नामक एक व्यक्ति ने 6 अप्रैल को यह कहकर एक सनसनी-सी
फैला दी कि "वे एक खास व्यक्ति का इन्तजार कर रहे हैं, उनका इशारा
मिलते ही खून की नदियाँ बहा दी जाएँगी।" इसी प्रकार 19 अप्रैल को
अमृतसर में बोलते हुए भिखरेनसिंह ने कहा :

यह दमनकारी सरकार मिटा दी जाएगी। इस काम के लिए लाला हरदयाल जर्मनी से हथियार ला रहे हैं, राजा महेन्द्रप्रतापसिंह बोल्शेविक सेना के साथ लाल झण्डा लेकर सरहद पर आ रहे हैं, रासबिहारी बोस, जापान से आ रहे हैं तथा मेरठ काण्ड के कैदी जेलें तोड़कर आ रहे हैं।" इस तरह के जोशीले समाचारों से अंग्रेजों की नींद हराम हो गई।

कुल मिलाकर भगतसिंह की शहादत ने सारे देश को झकझोर कर रख दिया। इससे लोगों को दुख तो अवश्य हुआ; परन्तु उनका उत्साह कम नहीं हुआ, बल्कि वे और भी अधिक जोश के साथ अंग्रेजों को देश के बाहर निकाल देने को तैयार हो गये। भगतसिंह भारत के मन एवं मस्तिष्क में बस चुके थे। भारतवर्ष के हर गाँव और शहर में उनके नारे सुनाई देते थे। अखबारों के पहले पृष्ठ पर उन्हीं का चित्र दिखाई देता था, उनके चित्र घटाघट बिक रहे थे। वे भारतीय जनता के आराध्य देव बन चुके थे। अंग्रेज सरकार ने उनके शरीर को तो खत्म कर दिया, पर वे भारतीयों के दिलों से उन्हें निकालने में असमर्थ थे। भगतसिंह के चित्रों में उन्हें अंग्रेजी हुकूमत की मौत का साया नजर आता था; अतः अंग्रेज सरकार उनके चित्रों को भी जब्त करने में पीछे नहीं हटी। अंग्रेज अपने इस कृत्य से कितने भयभीत थे, इस बात का अन्दाज इन घटनाओं से आसानी से लगाया जा सकता है कि होशियारपुर का पुलिस अधीक्षक घोड़े पर बैठकर कहीं जा रहा था, इतने में उसकी नजर एक पान की दुकान पर पड़ी; भगतसिंह का चित्र टँगा था; उसने इसे ब्रिटिश सरकार के बाल जैसा देखा; वह घोड़े से उतरा, लपककर दुकानदार का गिरेबान पकड़कर उसे जमीन पर पटक दिया और चित्र को पाँवों तले कुचल डाला, इसे कहा जा सकता है; सिरफिरापन कहें या जोश; कुछ का कहना : एक नौकरी, पागलपन का कुछ और। किसी आदमी के सीने का चित्र को नष्ट किया जा सकता है, लेकिन कैसे उसके नाम को; उसके आदर्श को; उसके कार्यों को; उसकी विचारधारा को? नहीं ऐसा कदापि नहीं हो सकता। अंग्रेजों के इस व्यवहार ने भारतीयों को भगतसिंह का और भी अधिक दीवाना बना दिया।

कांग्रेस का करांची अधिवेशन :

मार्च, 1931 के अन्तिम सप्ताह में भगतसिंह की मृत्यु के बाद कांग्रेस का करांची में 46वां अधिवेशन हुआ। लौहपुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल इस अधिवेशन के सभापति थे। इस अधिवेशन में भगतसिंह के पिता सरदार किशनसिंह भी उपस्थित थे। लोगों के दिलों में भगतसिंह की शहादत की याद एकदम ताजा थी, अतः इस अधिवेशन की शुरुआत एक मुर्दनी-सी छाये हुए माहौल में हुई।

अधिवेशन के आरम्भ में भगतसिंह सम्बन्धी प्रस्ताव रखा गया। प्रस्ताव की भाषा पर सम्मेलन में काफी वाद-विवाद रहा। कांग्रेस का नरम दल भगतसिंह के बलिदान की प्रशंसा करना चाहता था, परन्तु उन्हें हिंसा के मार्ग को अस्वीकार करते थे। युवा पीढ़ी प्रस्ताव के इस संशोधन का विरोध कर रही थी। अन्त में नरम दल का ही प्रस्ताव स्वीकार किया गया। इस प्रस्ताव की भाषा इस प्रकार थी—

"कांग्रेस, जबकि किसी भी प्रकार की राजनीतिक हिंसा को अस्वीकार करती है और अपने-आपको इससे अलग रखती है, भगतसिंह, राजगुरु तथा सुखदेव की वीरता तथा बलिदान की प्रशंसा करती है तथा दुःखी परिवारों के प्रति सहानुभूति व्यक्त करती है। कांग्रेस का मत है कि इन तीनों को फांसी एक असंगत प्रतिशोध की भावना का कार्य है और राष्ट्र की ओर से सर्वसम्मतिपूर्वक क्षमा की मांग का एक सोचा-समझा अपमान है, और कांग्रेस इस विचार से सहमत है कि सरकार ने दोनों राष्ट्रों के बीच सद्भावना फैलाने तथा दल को शान्ति के मार्ग पर लाने, जो कि निराशा की स्थिति में राजनीतिक हिंसा को अपनाती है एक स्वर्णिम अवसर को खो दिया है, जिसकी इस गम्भीर परिस्थिति में आवश्यकता थी···।"

इन वीरों की रक्षा न कर पाने के लिए महात्मा गांधी को भी इस अधिवेशन में विरोध का सामना करना पड़ा। युवा वर्ग ने जब इस विषय में गांधीजी से सवाल पूछे तो उन्होंने केवल इतना ही कहा—

"भगतसिंह का जीवन बचाने के लिए वाइसराय से की गई याचना का कोई लाभ नहीं हुआ। मैंने एक बात और कर ली होती कि सजा बदलने

को समझौते की शर्त बना लिया होता, जैसा आप लोगों का कहना है, किन्तु ऐसा नहीं किया जा सका और समझौता त्याग देने की धमकी एक विश्वासघात हो जाती। 'सजा बदलने' को समझौते की शर्त न बनाने के लिए कांग्रेस कार्यकारिणी मुझसे सहमत थी, इसलिए मैं समझौते में केवल इसका जिक्र ही कर पाया। मैंने उदारता की आशा की थी, मेरी आशा पूरी नहीं हुई, पर यह समझौते को तोड़ने का आधार नहीं हो सकता।"

जब सम्मेलन में भगतसिंह के सम्बन्ध में प्रस्ताव चल रहा था तथा अधिवेशन की कार्यवाही चल रही थी, तो पण्डाल के बाहर नौजवान जोर-जोर से शोर करते हुए अपने गुस्से को प्रकट कर रहे थे। इससे एक दिन पूर्व इन्हीं नौजवानों ने गांधीजी को काले झण्डे दिखाये थे।

इस प्रस्ताव के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए नेताजी सुभाष चन्द्र बोस को कहना पड़ा था, "करांची की परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि लोगों को प्रस्ताव की कड़वी गोली खानी पड़ी, जो सामान्य परिस्थितियों में भी इससे हजारों मील दूर रहते थे और जहाँ तक महात्मा गांधी का सम्बन्ध था, उन्हें अपने मन की बात प्रस्ताव की कार्यवाही में डालनी पड़ी। यद्यपि इस प्रस्ताव में उस समय संशोधन कर दिया गया, पर इससे विवाद का अन्त नहीं हुआ; कांग्रेस के राज्यों के सम्मेलनों में भी इस पर विवाद हुआ था।

भगतसिंह, सुखदेव तथा राजगुरु के मृत शरीरों का जो अपमान अंग्रेजों ने किया था; उसके बारे में इस सम्मेलन में बड़ी उत्तेजना देखने को मिली। अतः इसके लिए कांग्रेस की कार्यकारिणी ने एक जाँच समिति भी बनायी थी। इसके विषय में डॉ० पट्टाभि सीतारमैया ने 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का इतिहास' में लिखा है—

करांची में कांग्रेसियों को एक और बात ने उत्तेजित किया था, वह थी सरदार भगतसिंह और सुखदेव तथा राजगुरु के शवों के साथ अपमानजनक व्यवहार की चारों ओर फैली अस्पष्ट खबर। इसलिए कार्यकारिणी ने इन आरोपों की जाँच के लिए एक समिति का गठन किया, जिसे 30 अप्रैल तक कार्यकारिणी को अपनी रिपोर्ट देनी थी। इसके साथ ही हम यह भी बता दें कि भगतसिंह के पिता जो इस पग के लिए सबसे अधिक

एकादश अध्याय

भगतसिंह का जीवन-दर्शन

प्रत्येक मनुष्य की जीवन में अपनी अपनी कुछ मान्यताएँ होती हैं। यों कहिए कि जीवन के विभिन्न पहलुओं के विषय में हर एक व्यक्ति अलग-अलग ढंग से सोचता और विचारता है। देश, धर्म, राजनीति आदि विषय में लोगों के अलग-अलग विचार देखने में आते हैं। यही जीवन को देखने का अलग-अलग ढंग साधारणतया उनका जीवन-दर्शन कहा जाता है। यद्यपि भगतसिंह का जीवनकाल अधिक लम्बा नहीं रहा, उनका जन्म 27 सितम्बर, 1907 को तथा 23 मार्च, 1931 को उन्हें फाँसी दे दी गयी थी। इस प्रकार उनका कुल जीवन केवल 23 वर्ष 5 माह तथा 24 दिनों का रहा। इतने अल्प जीवन में उन्होंने जो कुछ भी कर दिखाया उसका महत्व अपने-आपमें अनूठा है। उनके जीवन-दर्शन अर्थात् उनके विचारों को संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

धर्म निरपेक्षता :

भगतसिंह धर्म को देश और राजनीति से अलग रखना चाहते थे। तथापि वह धर्म को राजनीति के खिलाफ़ के दुष्परिणामों को जानते थे। इसी दृष्टि से देश-सेवा करते हुए वह धर्म पर और देश ही उनका ईश्वर था। सन् 1924 में उन्होंने कानपुर से 'कौमदेव अलग अखबार' का प्रकाशन किया था। इसका सम्पादन करने से पहले इन्होंने एक लेख में यह स्पष्ट कर दिया था कि वह देश के हित को अपनी दृष्टि अलग अलग धर्मों के हितों के ऊपर रखेंगे। वास्तव में अन्य धर्मों से सम्बन्धित के एक विचार को करने अधिक आवश्यक है। देश के धर्मों के अन्य धर्म [illegible]

कोशिश में थे, इस विषय में कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सके, और न ही वे किसी प्रकार की सहायता देने के लिए समिति के सामने प्रस्तुत हुए। अतः इसका कोई परिणाम न निकला।"

भला जब शव ही जला दिये गए तो इसके बाद क्या प्रमाण मिल सकता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भले ही अंग्रेजों ने यह सोचा हो कि भगत-सिंह को फाँसी दे देने के बाद, भारतीय इस घटना को भूल जायेंगे, किन्तु इसके बाद के घटनाचक्र ने यह सिद्ध कर दिखाया कि उनका ऐसा सोचना स्वयं एक बहुत बड़ी भूल थी।

एकादश अध्याय

भगतसिंह का जीवन-दर्शन

प्रत्येक मनुष्य की जीवन में अपनी अपनी कुछ महत्त्वाकांक्षाएँ होती हैं। यों कहिए कि जीवन के विभिन्न पहलुओं के विषय में हर एक मनुष्य का अलग-अलग ढंग से सोचने और विचारने का है। इस, उसी प्रकार विभिन्न व्यक्ति विषय में लोगों के अलग-अलग विचार देखने में आते हैं। यही जीवन देखने का अलग-अलग ढंग साधारणतया उनका जीवन-दर्शन कहा जाता है। यद्यपि भगतसिंह का जीवनकाल अधिक लम्बा नहीं रहा, उनका जन्म 27 सितम्बर, 1907 को तथा 23 मार्च 1931 को उनकी मृत्यु हो गयी थी। इस प्रकार उनका कुल जीवन केवल 23 वर्ष 5 माह का ही रहा। इतने अल्प जीवन में उन्होंने जो कुछ भी कर दिखाया वह महत्त्व अपने-आपमें अनूठा है। उनका जीवन-दर्शन अर्थात् उनके विचारों को संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

में निरपेक्षता :

भगतसिंह धर्म को देश और राष्ट्रहित के अलग रखकर देखते थे। उन्होंने धर्म को राष्ट्रहित के लिए के दृष्टिकोण से कभी नहीं देखा। उनकी दृष्टि में धर्म केवल एक व्यक्तिगत मामला था। सन् 1928 में उन्होंने लाला लाजपतराय के अन्तिम संस्कार के समय किया था। इसका उद्देश्य हमारे देश के लोगों को यह समझाना था कि यह देश के लिए कार्य करने वाले व्यक्तियों के लिए धर्म को महत्त्व नहीं देना चाहिए। भगतसिंह के अनुसार धर्म व्यक्तिगत मामला है। देश के धर्म के आधार पर विभाजन को रोकना है। इसलिए हमारे राष्ट्रवादियों को धर्म को राष्ट्रहित के

कि धर्म का देश की राजनीति में कोई स्थान नहीं है, परन्तु आज लो इसे एक प्रकार से भूल ही चुके हैं। लोगों की दृष्टि में धार्मिक कट्टरता सामने देश के हितों का कोई मूल्य नहीं रह गया है।

भगतसिंह का जन्म भले ही एक सिख परिवार में हुआ था, किन्तु उनके जीवन को देखने से लगता है कि उन्होंने अपने को कभी भी एक सिख के रूप में नहीं देखा था। वह एक भारतीय थे; भारतीयता ही उनका धर्म था; भारतभूमि उनकी आराध्या देवी थी; वह समस्त भारत के थे और समस्त भारत उनका अपना था। 'नौजवान भारत सभा' का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य साम्प्रदायिकता रहित सभी प्रकार के सामाजिक, आर्थिक तथा औद्योगिक संगठनों से सहानुभूति रखना भी था। वस्तुतः यदि भारत को अपने अस्तित्व की रक्षा करनी है, तो आज हमारे राष्ट्रीय नेताओं को इस बात पर ध्यान देना ही होगा कि साम्प्रदायिक आधार पर बने सभी प्रकार के संगठनों पर रोक लगाई जाए, अन्यथा इसके दुष्परिणामों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। राष्ट्र के भविष्य को सुनिश्चित रखने के लिए भगतसिंह के इस विचार से हमें प्रेरणा लेनी ही होगी।

राष्ट्रीय भावना का विकास :

भगतसिंह का यह निश्चित विचार था कि देश तभी मजबूत हो सकता है जब यहाँ के नवयुवकों में देशभक्ति की भावना का सही रूप में विकास हो। हमें यह कहने में थोड़ा-सा संकोच नहीं है कि आजादी के इतने वर्षों बाद भी भारत में इस भावना का उचित विकास नहीं हो पाया है, जबकि राष्ट्रीय आन्दोलनों के समय यह भावना अपनी ऊँचाइयों पर थी। भगतसिंह इस तथ्य को जान गये थे कि भारत तभी एक रह सकता है, जब यहाँ के नवयुवकों में देशभक्ति की भावना हो। इसीलिए 'नौजवान भारत सभा' का सबसे पहला उद्देश्य ही यही था—'एक संयुक्त भारतीय गणराज्य के लिए भारतीय युवकों में देशभक्ति की भावनाओं को जगाना।'

इस भावना के न होने पर भले ही बाहरी रूप में देश की एकता बनी रहे, पर वास्तविक रूप में यह एकता केवल दिखावे की [illegible] जो देश के लिए कभी भी घातक हो सकती है।

माजवादी दृष्टिकोण :

भगतसिंह के राजनीतिक विचार समाजवादी सिद्धान्तों पर आधारित । नौजवान भारत सभा के निम्नलिखित दो उद्देश्यों में उनके इन चारो का पहली बार परिचय मिलता है—

'किसानो एव मजदूरो तथा संपूर्ण स्वतन्त्र गणराज्य प्राप्ति के साम । जाने वाले आन्दोलनो को समर्थन देना ।'—'श्रमिको तथा कृषकों को गठित करना ।'

यहाँ यह उल्लेख करना अनुचित न होगा कि नौजवान भारत सभा ी स्थापना मार्च, 1926 में हुई थी, तब तक राष्ट्रीय कांग्रेस ने सम्पूर्ण वतन्त्र गणराज्य की बात सोची भी नहीं थी, तब तक कांग्रेस का उद्देश्य ब्रेटेन के एक अंग के रूप में स्वतन्त्र भारत का निर्माण था; न कि सपूर्ण मुना सम्पन्न राष्ट्र का निर्माण कांग्रेस ने पहली बार सम्पूर्ण स्वतन्त्रता ी मांग अपने लाहौर अधिवेशन में सन् 1929 में की थी। वास्तव में भगतसिंह कम्यूनिस्ट विचारो के जन्मदाता कार्ल मार्क्स तथा 1917 की रूसी क्रान्ति से अत्यधिक प्रभावित थे। इस बात का प्रमाण उनके जीवन की अनेक घटनाओं में मिलता है।

असेम्बली बम काण्ट में दिल्ली जेल में लगी सेशन जज मिडल्टन की अदालत में दिया गया उनका भाषण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि भगतसिंह एक समाजवादी थे। उन्होंने यह भाषण 6 जून, 1927 को दिया था। इस भाषण के निम्नलिखित अश देखिए—

"हमारा उद्देश्य यह है कि अन्याय पर आधारित वर्तमान न्याय-व्यवस्था में परिवर्तन लाना चाहिए। उत्पादक और श्रमिक समाज के अत्यन्त आवश्यक तत्व है, तथापि शोषक लोग उन्हें श्रम के फलो और मौलिक अधिकारों से वंचित कर देते हैं। एक ओर अन्न उगाने वाले किसान भूखों मर रहे है, सारी दुनिया के बाजारो में कपड़ों की पूर्ति करने वाले बुनकर अपने और अपने बच्चों के शरीरों को ढांकने के लिए पूरे कपड़े प्राप्त नहीं कर पाते, भवन-निर्माण, लोहारी और बढ़ईगीरी के काम में लगे लोग शानदार महलों का निर्माण करके भी गन्दी बस्तियों में रहते है और मर जाते है। दूसरी ओर पूंजीपति, शोषित और समाज पर घुन-

की तरह जीने वाले लोग अपनी सनक पूरी करने के लिए करोड़ों रुपये पानी की तरह बहा देते हैं।...क्रान्ति से हमारा प्रयोजन अन्ततः एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना है जिसे इस प्रकार के घातक खतरों का सामना न करना पड़े और जिसमें सर्वहारा वर्ग की प्रभुता को मान्यता दी जाए। इसका परिणाम यह होगा कि विश्व संघ मानवजाति को पूंजीवाद के बन्धन तथा युद्ध से उत्पन्न होने वाली बर्बादी और मुसीबतों से बचा सकेगा।"

इस प्रकार की विपमताओं को दूर करने का इलाज उनका केवल समाजवाद ही था। वह समाजवाद से किस सीमा तक प्रभावित थे, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि लाहौर सेण्ट्रल जेल में भी उन्होंने मार्क्स तथा रूसी क्रान्ति की पुस्तकें मँगाई थीं और फाँसी चढ़ने से कुछ ही देर पहले तक वह लेनिन की जीवनी पढ़ने में डूबे हुए थे।

देश को नेता नहीं स्वयंसेवक चाहिए :

भगतसिंह काम करने में विश्वास करते थे, नेतागीरी करने में नहीं। देश का कल्याण इसी में है कि वहाँ के राजनीतिक व्यक्ति अपने को नेता न समझकर; जनता का सेवक, एक कार्यकर्त्ता अथवा जनसेवक समझें। भारत में समाजवाद की स्थापना के उद्देश्य से क्रान्तिकारियों ने 'भारत समाजवादी गणतन्त्र संघ' की स्थापना की थी। इस विषय में भगतसिंह ने लिखा था—

"मैं नौजवानों से कहता चाहता हूँ कि वे इस काम में कार्यकर्त्ता के रूप में आगे लें, जहाँ तक नेताओं का सवाल है वे पहले से ही बहुत हैं। हमारी पार्टी को नेता नहीं चाहिए। यदि आप सांसारिक प्राणी हैं, पारिवारिक प्राणी हैं, तो हमारे पास न आएँ। किन्तु यदि आप हमारे उद्देश्य से सहानुभूति रखते हैं, तो दूसरी तरह से हमारी सहायता करें। केवल कड़े अनुशासन से रहनेवाले लोग ही आन्दोलन को आगे बढ़ा सकते हैं।"

किन्तु आज हमारे राजनीतिक दलों की स्थिति इससे सर्वथा विपरीत है, इनमें अनुशासन जैसी कोई चीज नहीं है; हाँ चा[illegible] व्यक्ति-पूजा को तो अनुशासन कहा नहीं जा सकता। इ[illegible] भी

सदस्य कार्यकर्त्ता बनकर नही रहना चाहता, सभी की नजर कुर्सी पर रहती है, हर कोई नेता ही बनना चाहता है।

मानवता / हिंसा :

ऊपर लिखा जा चुका है कि भगतसिंह पर समाजवादी विचारों का प्रभाव था। अत: वह मानवता के प्रबल समर्थक थे। मनुष्य का जीवन उनकी दृष्टि मे सबसे अधिक पवित्र वस्तु था। उन्हें अंग्रेजों से कोई व्यक्तिगत दुश्मनी नही थी। अपने इन विचारो का परिचय देते हुए उन्होंने दिल्ली जेल मे लगी अदालत में कहा था—

"मानवमात्र के प्रति हमारा प्रेम किसी से कम नही है, अत: किसी के प्रति विद्वेष रखने का प्रश्न ही नही उठता। इसके विपरीत हमारी दृष्टि में मानव जीवन इतना पवित्र है कि उसका शब्दों मे वर्णन नही किया जा सकता।"...किसी को चोट पहुँचाने के बजाय मानवजाति की सेवा के लिए हम अपने प्राण देने को तत्पर है। हम साम्राज्यवादी सेना के उन भाड़ैत सैनिकों की तरह नही हैं, जो हत्या करने मे आनन्द लेते हैं। इसके विपरीत हम मानव जीवन की रक्षा का प्रयत्न करेंगे।"

स्पष्ट है कि भगतसिंह व्यर्थ के रक्तपात के पक्ष में नही थे, किन्तु भारत की आजादी के लिए इस समय उन्हे हिंसा का सहारा लेना पड़ा था। उन्होंने ऐसा क्यो किया?—उसका उत्तर भी उन्होंने अपने इस भाषण मे स्वय दिया है—

"हमने पिस्तौल लेकर मे काल्पनिक हिंसा शब्द का प्रयोग किया है, हम उसकी व्याख्या करना चाहते हैं। हमारी दृष्टि मे बल प्रयोग उस समय अन्यायपूर्ण होता है जब वह आक्रमण की विधि से किया जाए, किन्तु जब बल का प्रयोग किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाए, तो वह नैतिक दृष्टि से न्यायसंगत हो जाता है। बल प्रयोग का पूरी तरह बहिष्कार कोरी काल्पनिक बेवकूफी है।"

भगतसिंह के इन शब्दों मे कितनी सच्चाई है, इसका फैसला पाठक स्वयं कर सकते है। क्या हमारा कोई शत्रु हमारे देश पर आक्रमण कर दे, या व्यक्तिगत जीवन मे ही कोई हमे हानि पहुँचाए; हमारा क्या दूसरा

कर दे, तो इसमें उसे बुरे कामों का कौन अधिकार है? और कौन उ
कर सकता है? यदि अहिंसा से ही विजयश्री प्राप्त होती,
किसी देश को तो क्या अपना घरेलू झगड़ा के लिए पुलिस आदि की व्यव
करने की कोई जरूरत ही न पड़ती। इसीलिए ऐसे मामलों के लिए ब
उद्योग, अर्थात् हिंसा के प्रयोग को अनुचित अनुचित नहीं मानते थे।
सम्पूर्ण राष्ट्र के हित को ध्यान में रखकर ही उन्होंने अंग्रेजों के विरु
हिंसा का मार्ग अपनाया था, किन्तु उनकी यह हिंसा नीच भावनाओं से
प्रेरित थी। इसका उद्देश्य सम्पूर्ण भारत मुक्ति को स्वराज्य था; न कि
अंग्रेज जाति से कोई वैर की भावना।

अपनी सभ्यता एवं संस्कृति पर गर्व :

किसी भी सच्चे राष्ट्रप्रेमी के हृदय में अपने देश की संस्कृति तथा सभ्यता के लिए अनुराग होना स्वाभाविक है, अतः भगतसिंह भी इसके अपवाद नहीं थे। यद्यपि वह साम्यवादी विचारों के प्रबल समर्थक थे; धर्म में उनकी कोई विशेष आस्था नहीं थी; रूसी क्रान्ति के जनक लेनिन उनके आदर्श थे, तथापि उन्हें भारत, भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता से अपार प्रेम था। इसी प्रेम के कारण उन्होंने अपने जीवन में समस्त सुख-सुवि धाओं को तिलाञ्जलि देकर क्रान्ति का कठोर मार्ग अपनाया था। उनके संस्कृति प्रेम का परिचय भी 'नौजवान भारत सभा' के गठन से स्पष्ट रूप में प्राप्त होता है। अन्य बातों के साथ ही इस सभा का एक महान् उद्देश्य भारतीय संस्कृति तथा भारतीय भाषाओं का प्रचार करना भी था।

भारतीय इतिहास के दो महापुरुष गुरु गोविन्द सिंह तथा छत्रपति शिवाजी के लिए उनके दिल में अपार श्रद्धा थी। उनके विचारों के अनुसार ये दो महापुरुष भारतीय इतिहास के महान् क्रान्तिकारी थे। इन दोनों को वह अपनी क्रान्ति का प्रेरणास्रोत मानते थे—

"इस देश में एक नया आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है, जिसकी पूर्व सूचना हम दे चुके है। यह आन्दोलन गुरु गोविन्द सिंह और शिवाजी, कमाल पाशा और रिजा खाँ, वाशिंगटन और गैरी बाल्डी तथा लाफरेते और लेनिन के कार्यों से प्रेरणा ग्रहण कर[illegible]

गीता भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। भगतसिंह को गीता ने भी प्रभावित किया था। अपने जेल के जीवन में आमद वह कम्यूनिस्ट साहित्य के साथ ही गीता का भी अध्ययन करते रहते थे। सम्भवतः गीता के निष्काम कर्मयोग से प्रभावित होकर ही उन्होंने सुख-शान्ति का जीवन छोड़कर निष्काम भाव से मातृभूमि की सेवा का मार्ग अपनाया था। उनके गीता प्रेम का परिचय उनके एक पत्र से प्राप्त होता है। यह पत्र उन्होंने दिल्ली जेल से अपने पिता सरदार किशनसिंह को लिखा था, जब वह असेम्बली बम काण्ड में पहली बार गिरफ्तार हुए थे—

"हाँ, अगर हो सके, तो 'गीता रहस्य' नेपोलियन की मोटी सुआने उमरी, जो आपको दुबुग में मिल जाएगी और अंग्रेजी के कुछ नावल लेते आना।"

इस तरह बिना कोई इच्छा के राज्वाई के लिए लड़ते रहना तथा मृत्यु से बिलकुल भी भयभीत न होना इत्यादि गुण स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि उन्होंने गीता का अध्ययन अत्यन्त गम्भीरता के साथ किया था, जिनसे प्रभावित हुए बिना वह नहीं रह सके। लाहौर के अपने डी० ए० वी० स्कूल के विद्यार्थी जीवन में संस्कृत उनका प्रिय विषय था, इसका उल्लेख उनके प्रारम्भिक जीवन के अन्तर्गत हो चुका है।

बलिदान आवश्यक :

शहीद भगतसिंह की यह निश्चित अवधारणा थी किसी लक्ष्य को पाने के लिए बलिदान आवश्यक है। उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त करना था। अतः इसके लिए वह कठिन से कठिन परीक्षा भी देने को तैयार थे, और उन्होंने दी भी; अपने जीवन का बलिदान देकर उनका कहना था कि लक्ष्य की प्राप्ति आसानी से नहीं होती; इसके लिए लगातार प्रयत्न करना पड़ता है—

"....मैं युवकों से अपील करना चाहूँगा कि समाजवादी प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए उत्साहपूर्वक कार्य करें। यदि वे इस संघर्ष को बिना थके करते चले जाते हैं तो वे अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं, पर एक वर्ष में नहीं, अपितु भारी बलिदान और कठिन परीक्षाओं के बाद!"

कुछ पाने के लिए कुछ खोना भी पड़ता है, कुछ ही नहीं, बहुत कुछ खोना पड़ता है, इस भावना से कार्य करने वाला ही लक्ष्य को प्राप्त करता है, इन पंक्तियों से यही शिक्षा प्राप्त होती है। भगतसिंह को जब लाहौर जेल की काल कोठरी में भेजा गया तो उस समय अपने अन्य मित्रों को विदाई देते हुए उन्होंने कहा था—

"साथियो ! मिलना तथा बिछुड़ना तो लगा रहता है, हो सकता है हम फिर मिल सकें। जब आपकी सजा पूरी हो जाए तो घर पहुँचकर सांसारिक कार्यों में न उलझ जाना। जब तक आप भारत से अंग्रेजों को निकालकर समाजवादी गणतन्त्र स्थापित न कर लें, आराम से न बैठें। यह मेरा आपके लिए अन्तिम सन्देश है।"

अर्थात् चलते रहो, रुको मत; तब तक, जब तक कि मंजिल न मिल जाए, यही उनका सिद्धान्त था। यह एक श्रेष्ठ प्रकार की त्याग भावना है।

एकता के समर्थक :

भारत विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों का देश है। यहाँ विभिन्न धर्मों के मानने वाले लोग सदियों से एक साथ रहते आये हैं; साथ ही यह भी सत्य है कि यहाँ विभिन्न धर्मों को मानने वाले लोगों में से अधिकतर एक ही पूर्वजों की सन्तान हैं। इस प्रकार धार्मिक विश्वासों के अलग होने पर भी वे भाई-भाई हैं, किन्तु कभी-कभी कुछ फिरकापरस्त लोगों के शतरंज के मोहरे बनकर वे आपस में ही एक दूसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं। एक सच्चा इन्सान, जो सच्चे अर्थों में धर्म को मानता है, इस प्रकार के कार्यों एवं विचारों को कभी उचित नहीं कह सकता। शहीद भगतसिंह भी एक सच्चे मानव थे, उनकी दृष्टि में मानवता ही सबसे बड़ा धर्म थी; वे सभी भारतीयों को आपस में भाई मानते थे। अतः इनको आपस में लड़ते देखकर उनकी आत्मा रो उठती थी। इस विषय में श्री दीनानाथ

एक दिन रात में कोई बारह बजे मेरी आँख खुली तो सिसकियाँ भर-भर कर रो रहे थे। मैंने उन्हें धीरज बँधाया, तब रोने का कारण पूछा तो बहुत देर तक चुप रहने के बाद बोले—"मातृभूमि की दुर्दशा को देखकर मेरा दिल छलनी हो रहा है। एक ओर विदेशियों के अत्याचार, दूसरी ओर भाई भाई का गला काटने को तैयार है। इस हालत में ये बन्धन कैसे कटेंगे?"

1925 में जब भगतसिंह दिल्ली में 'वीर अर्जुन' में काम करते थे, तो उन दिनों देश साम्प्रदायिक दंगों की आग में जल रहा था, दिल्ली भी इससे अछूती नहीं रही, अतः भगतसिंह जैसे सच्चे राष्ट्रभक्त का इस प्रकार के हालातों को देखकर दुःखी होना स्वाभाविक ही था।

समस्त भारतवासी आपस में एक होकर रहें, यह उनकी हार्दिक इच्छा थी। इसी उद्देश्य के लिए उन्होंने जून 1928 में लाहौर में 'विद्यार्थी यूनियन' बनायी थी। अधिकतर विद्यार्थी ही इसके सदस्य बनाये जाते थे। क्योंकि विद्यार्थी ही भावी राष्ट्र के निर्माता होते हैं। देश की एकता के लिए सामाजिक बुराइयों को दूर करना इस यूनियन का मुख्य कार्य था। द्वितीय अध्याय में लिखा जा चुका है कि यह यूनियन हिन्दुओं और मुसलमानों के जाति-पाँति, छुआछूत आदि संकीर्ण विचारों को दूर करने के लिए मिले-जुले भोजों का आयोजन करती थी, जिसमें सभी जातियों और धर्मों के लोग एक साथ बैठकर भोजन करते थे। इस सभा के अनेक सदस्यों ने अपने-अपने धर्म की दुरवस्था पर खेद लिखे थे तथा जातिवाद का जमकर विरोध किया था।

इस प्रकार शहीद भगतसिंह राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास के प्रबल समर्थक, धर्म निरपेक्ष राजनीति के विचारक तथा एक ऊँचे आदर्श वाले समाजवादी थे। वह साम्राज्यवाद के सच्चे दुश्मन, घोर आतंकवाद के विरोधी, अपनी सरकार एवं संगठन पर अधिकतम करने वाले और राष्ट्रीय एकता के पक्षधारी थे। उन्होंने भारत के सुन्दर भविष्य का स्वप्न देखा था; वे एक सच्चे मनुष्य और सच्चे भारतीय थे, जिन्होंने भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए अपने प्राणों का भी बलिदान कर दिया।

मन्दिर था, जिस पर गांधी चलते थे वह जमीन पवित्र थी। भगत
सिंह को फांसी लगी और जहां उनका अन्तिम संस्कार किया गया वे
तीर्थ बन चुके हैं। भगतसिंह के विषय में बिना आंखें गीली किये या
भावुक हुए नहीं लिखा जा सकता। फांसी के तख्ते पर झूलने
ने ज्यादा सच्चा जीवन जिया। उनका ही कथन है कि [illegible]
गांधीजी की हत्या का वर्णन। दोनों ने अपने जीवनों को [illegible]
भुनाया नहीं जा सकता। दोनों की मौत लोगों के दिलों में [illegible]
दर्जा रखती है।"

इस प्रकार जहां मरण दोनों का एक ही था—[illegible]
कराना, वहीं दोनों के विचारों में जमीन और आसमान का [illegible]
दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र के परम योद्धा थे। दोनों ही [illegible]
एक सत्य पर आधारित थी और अन्तिम [illegible]
इन दोनों में किसी एक को दूसरे से महत्व [illegible]
होगा।

जिसके बुद्धियुक्त स्पष्ट चेहरे से विद्रोही कृतियों की झलक मिलती थी।"

अपने देश से प्रेम करना कोई अपराध नहीं है। यदि कोई अपनी मातृभूमि की रक्षा-सुरक्षा अथवा उसकी आज़ादी के लिए उसके शत्रुओं को भयभीत कर दे; उन्हें आतंकित कर दे तो इसे उसका दुर्गुण नहीं कहा जा सकता; यह तो एक श्रेष्ठ कार्य है; तब उसे किस आधार पर आतंकवादी कहा जा सकता है! भगतसिंह एक ऐसे ही सूरमा थे। अपने 2 फरवरी, 1931 को देश के युवकों के नाम दिये गये सन्देश में उन्होंने यही बात कही थी—

"यह बात प्रसिद्ध है कि मैं आतंकवादी रहा हूँ, लेकिन मैं आतंकवादी नहीं हूँ। मैं एक क्रान्तिकारी हूँ, जिसके कुछ निश्चित विचार, निश्चित आदर्श तथा लम्बा कार्यक्रम है।"

यदि अपने देश की रक्षा के लिए कोई शत्रु की हत्या करे तो उसे अपराधी नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा होता, तो देश की रक्षा के लिए लड़ने वाले योद्धा भी अपराधी कहे जाते। यही बात भगतसिंह पर भी लागू होती है, जिसे उन्होंने असेम्बली बम काण्ड की लाहौर उच्च न्यायालय में स्वयं कहा था—

पहली बात यह है कि हमने असेम्बली में जो बम फेंके थे, उनसे किसी व्यक्ति को शारीरिक या मानसिक हानि नहीं हुई। इस दृष्टि से जो सजा हमें दी गई है, वह कठोरतम ही नहीं, बदला लेने की भावनायुक्त भी है। दूसरी दृष्टि से देखा जाए, तो जब तक अभियुक्त की मनोभावना का पता न लगाया जाए, उसके असली उद्देश्य का पता नहीं चल सकता। यदि उद्देश्य को पूरी तरह भुला दिया जाए, तो किसी भी व्यक्ति के साथ न्याय नहीं हो सकता, क्योंकि उद्देश्य को दृष्टि में न रखने पर संसार के बड़े-बड़े सेनापति साधारण हत्यारे नज़र आएँगे, सरकारी टैक्स वसूल करने वाले अधिकतर चोर-जालसाज दिखायी देंगे और न्यायाधीशों पर बदले का आरोप लगेगा। इस तरह तो समाज-व्यवस्था और सभ्यता, खून-खराबा, चोरी और जालसाजी बनकर रह जाएगी। यदि उद्देश्य की उपेक्षा की जाए, तो हुकूमत को क्या अधिकार है कि समाज के व्यक्तियों से न्याय करने को कहे। उद्देश्य की उपेक्षा करने पर धर्म-प्रचार झूठ का

प्रचार दिखायी देगा और हरएक पैगम्बर पर अभियोग लगेगा कि उस करोड़ों भोले और अनजान लोगों को गुमराह किया। यदि उद्देश्य को दृ दिया जाए तो हजरत ईसामसीह गड़बड़ करनेवाले, शान्ति भंग करनेवा और विद्रोह का प्रचार करने वाले दिखाई देंगे। कानून के शब्दों में खतर नाक व्यक्तित्व माने जाएँगे।"

वास्तव में भगतसिंह एक युद्धबन्दी थे। उन्होंने अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए, उसकी गुलामी को समाप्त करने के लिए अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध युद्ध किया था। ऐसा उनका स्वयं भी मत था। अतः यदि अंग्रेज उन्हें आतंकवादी कहते थे, तो इसका यह अर्थ नहीं कि वे वास्तव में सत्य कहते थे, क्योंकि राजनीति में अपने शत्रु को लोगों की नजरों में नीचा दिखाने के लिए ऐसा कहने का कोई महत्त्व नहीं होता।

विभिन्न विद्वानों-राजनीतिज्ञों की दृष्टि में :

इतना तो स्पष्ट है कि भगतसिंह भारतमाता के सच्चे सपूत और सेवक थे, चाहे विदेशी अंग्रेज सरकार उन्हें कुछ भी क्यों न कहे। इस अद्वितीय वीर के व्यक्तित्व में कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं कि भारत ही नहीं विदेशी विद्वान तथा राजनीतिज्ञों ने इनका महत्त्व स्वीकार किया है।

भगतसिंह ने भारतवर्ष के सुन्दर भविष्य की कल्पना की थी। कांग्रेस ने भारत के लिए पूर्ण स्वराज्य की माँग अपने लाहौर अधिवेशन में की थी, जबकि भगतसिंह इससे पूर्व ही पूर्ण स्वतन्त्रता को अपने कार्यक्रमों का लक्ष्य बना चुके थे। इस प्रकार भगतसिंह एक भविष्यद्रष्टा कहे जा सकते हैं। उनके इसी गुण के विषय में डॉ० राम मनोहर लोहिया ने कहा था कि "व्यक्तिगत रूप से कायर किसी देश की स्वतन्त्रता के लिए उतने खतरनाक नहीं होते, जितने सामाजिक और आर्थिक विषमताओं की समझ न रखने-वाले वीर योद्धा और बढ़-चढ़कर बोलनेवाले राजनीतिज्ञ होते हैं। अपने समकालीनों से कहीं ऊँचा भगतसिंह अपने समय से आगे था। उसने भारत के भविष्य की परिकल्पना आधी शताब्दी से पूर्व ही कर ली थी।"

बिना नहीं रहता था। उनके इसी गुण की चर्चा करते हुए डॉ० सतपा
लिखते हैं, "मुझे कांग्रेस तथा 'नौजवान भारत सभा' में भगतसिंह के सा
काम करने का अवसर मिला। अपने लम्बे सार्वजनिक जीवन में मुझे व
जैसा उपयोगी, जोशीला, चतुर, साहसी तथा समझदार युवक शायद
मिला हो। इश्तहार चिपकाने को वे तैयार, दरियाँ बिछानी हों, तो
तैयार, भाषण करवाना हो, तो आग बरसा दें। मतलब यह है कि प्रत्ये
कार्य वे लगन से करते थे। जनता पर उनके असीम प्रभाव का कारण
था कि वे स्वार्थ, ईर्ष्या या लोभ से सदा दूर रहते थे। उनके चरित्र में इत
गुण थे कि उनमें शालीन पुत्र, प्रिय साथी तथा आदरणीय नेता को
साथ पाया।"

पण्डित मोतीलाल नेहरू भगतसिंह से किस सीमा तक प्रभावित
इसका प्रमाण उनके अनेक बार भगतसिंह से मिलने तथा उन्हें बचाने
प्रयत्नों में अच्छी तरह मिल जाता है। उन्होंने केन्द्रीय विधान सभा
बोलते हुए एक बार कहा था, "ये नौजवान उपासना करने के योग्य त
महान आत्मा वाले वीर थे।"

पण्डित मोतीलाल नेहरू की तरह महामना मदनमोहन मालवीय
हृदय में भी भगतसिंह के लिए अपार आदर भावना थी; उन्होंने भगतसि
राजगुरु तथा सुखदेव की फाँसी की सजा बदलवाने के लिए वायसराय
दया की अपील भी की थी। इन वीरों की प्रशंसा करते हुए उन्होंने क
था, "भगतसिंह तथा उनके साथी साधारण अपराधी नहीं हैं। वे
व्यक्तित्व हैं, जिनके हिंसा कार्यों की, जिसके लिए वे दोषी प्रमाणित कि
गये हैं, जितनी आलोचना की जाए, किन्तु वे ऐसे व्यक्ति हैं, जो स्वार्थ
भावनाओं से प्रेरित नहीं हैं। वे सभी ऐसे व्यक्ति हैं, जो देशभक्ति
उच्च भावना तथा स्वदेश की स्वतन्त्रता की भावना से प्रेरित हुए हैं।"

महान समाजवादी नेता आचार्य नरेन्द्रदेव ने क्रान्तिकारी भगतसि
की प्रशंसा करते हुए कहा था, "भगतसिंह तथा दूसरे क्रान्तिकारियों
एक बड़ा अन्तर यह है कि उन्होंने असाधारण रूप से इस बात की घोष
की थी कि भारत को दासता के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार प्रा
है। उनका शौर्य एक विशेष वस्तु है, जो हमारे लिए सदा प्रेरक उदाह

रहेगा। जो राष्ट्र दीर्घकाल तक पराधीन था, जिसमें राष्ट्रीय चरि नहीं रह गया था, जो यह सोचता था कि विदेशी शक्ति का सामना करना साहस मुझमें नहीं है और जो मंत्रियों का चेहरा देखकर नयमी जाता था, उस राष्ट्र के लिए शूरवीरता के ऐसे उदाहरण प्रिय क्यों न भगतसिंह का नाम लेते ही हृदय में बिजली-सी कौंध जाती है। पीढ़ी के लिए मानसीय दुर्बलताएँ दूर हो जाती हैं और प्रत्येक व्यक्ति अ आपको भावुकता के नये संसार में पाता है।"

वास्तव में पराधीन भारत को स्वाधीनता का महत्व समझाने लिए तथा उसकी राह दिखाने में भगतसिंह ने एक प्रकाश स्तम्भ का क किया था, उन्होंने गुलाम भारतीयों को सन्देश दिया था कि गुलामी अपमानपूर्ण जीवन से सम्मान के साथ मातृभूमि की सेवा करते हुए मृ का आलिंगन करना श्रेयस्कर है। उनके लिए मातृभूमि की स्वतन्त्रता जीवन का लक्ष्य था। उनके क्रान्तिकारी साथी विजयकुमार सिन्हा के श शब्दों में—"जहाँ तक आत्मत्याग की भावना का प्रश्न है, उनके पास पर्याप्त मात्रा में थी। वह क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए प्राण तक को न्यौछावर करने के लिए हरदम तैयार रहता था। जब वह असेम्बली में बम फेंकने के लिए जा रहा था, तो किसी ने परामर्श दिया कि उसे बम फेंकने के बाद बच निकलना चाहिए, परन्तु उसने इस बात का डटकर विरोध किया। उसने इस बात पर बल दिया कि उसे स्वयं अपने-आपको गिरफ्तार करवा-कर दोषी सिद्ध करवाना चाहिए, ताकि वह अपने समाजवादी सिद्धान्तों को और अधिक प्रभावशाली ढंग तथा प्रेरणा द्वारा प्रचारित कर सके। साण्डर्स वध पर पार्टी नहीं चाहती थी कि वह इसमें भाग ले, परन्तु भगतसिंह खतरा उठाने के लिए इतना तीव्र इच्छुक था कि उसे अन्त तक न रोका जा सका।"

भगतसिंह एक क्रान्तिकारी थे, किन्तु महात्मा गांधी परम अहिंसा-वादी, फिर भी उनकी लोकप्रियता तथा महत्त्व गांधीजी से किसी प्रकार कम नहीं था। इसीलिए डॉ० पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है कि "यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि भगतसिंह [illegible] उतना ही लोकप्रि[illegible] जितना गांधी जी का।"

भगतसिंह की उदात्त देशभक्ति के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते
पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला के पूर्व उपकुलपति कृपालसिंह ना
लिखते हैं—

"भगतसिंह का क्रान्तिकारी जीवन भारत के प्रत्येक नागरिक के लि
एक प्रकाश दीप का प्रतीक है। वे एक असाधारण दृष्टि एवं ऊर्जा नवयु
थे, जिन्होंने भारत की आत्मा को झकझोरा और विश्व की महान
साम्राज्यवादी शक्ति को चेतावनी दी। वे एक सच्चे और उदात्त देशभ
थे। उन्होंने अपनी भारतमाता को स्वतन्त्र कराने के लिए जो निर्भयता
बलिदान दिया, उसका परिणाम यह रहा है कि तत्कालीन नवयुवक
एक नवीन चेतना एवं उत्साह भर गया। स्वतन्त्र भारत इसके लिए उन
अत्यधिक ऋणी है और उनके पराक्रमयुक्त कार्यों को कभी नहीं भ
सकता। अपने अद्वितीय राष्ट्रप्रेम एवं बलिदान द्वारा उन्होंने अ
समकालीन भारतीय नवयुवकों के समक्ष अतीव निराशा को छिटक
राष्ट्र-निर्माण, सम्मान एवं उज्ज्वल पथ का निर्माण किया।"

शहीद भगतसिंह भारतीय जनमानस में वीरता एवं बलिदा
प्रतीक बन गये है। इसी ओर संकेत करते हुए पूर्व केन्द्रीय मन्त्री डॉ०
सिंह ने लिखा है, "भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए जिन्होंने अपने जी
का बलिदान दिया, उन सब में सरदार भगतसिंह एक वीर योद्धा
नाटकीय व्यक्तित्व थे। वह पंजाब के रहने वाले थे, और उनके मनु
एवं साहस की परम्परा के साथ 'भगतसिंह बलिदान' सरीखा महान
करके उस विद्रोह की विचारधारा के प्रतीक बन गये, जिसे तत्का
भारतीय युवा पीढ़ी ने अपनाया। उनकी कहानी एक पौराणिक कथ
गई है और उनका नाम स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में देशभक्ति एवं बलि
का पर्यायवाची बन गया है।"

अपने इन महान् कार्यों के लिए भगतसिंह भारतीयों के दिलों में
जिन्दा रहेंगे। भगतसिंह तथा उनके दो अन्य साथियों को फाँसी दे
जाने पर लाहौर के उर्दू दैनिक समाचार-पत्र 'प्रताप' ने लिखा था—

"हिन्दुस्तान इन तीनों शहीदों को पूरे ब्रितानिया से ऊँचा समझ
अगर हम हजारों-लाखों अंग्रेजों को मार भी गिराएँ, तो भी हम पूरा

नहीं चुका सकते। यह बदला तभी पूरा होगा अगर तुम हिन्दुस्तान आजाद करा लो। तभी ब्रितानिया की शान मिट्टी में मिलेगी। ओ भग सिंह! राजगुरु! और सुखदेव! अंग्रेज खुश हैं कि उन्होंने तुम्हारा ख फर दिया है, लेकिन वो गलती पर हैं। उन्होंने तुम्हारा खून नहीं किय उन्होंने अपने ही भविष्य में छुरा घोंपा है। तुम जिन्दा हो और हमेश जिन्दा रहोगे।"

भगतसिंह जैसी विभूतियाँ कदाचित् ही जन्म लेती हैं। इसी विषय में श्री के० के० खुल्लर ने लिखा है—

"भगतसिंह के जीवन और मृत्यु का निष्कर्ष यह है कि व्यक्तियों के दमन से विचारों का दमन नहीं किया जा सकता। भगतसिंह जैसा व्यक्ति अनेक शताब्दियों में एक बार जन्म लेता है। उसने मृत्यु का वरण किया, ताकि जीवित रहे।"

भगतसिंह के गुणों से पण्डित जवाहरलाल नेहरू भी अभिभूत थे। भगतसिंह के जेल के जीवन में भी वह उनसे मिलते रहे थे। भगतसिंह के विषय में उन्होंने प्रशंसा करते हुए और उनके महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहा था कि "क्या कारण है कि यह नवयुवक अचानक ही इतना लोकप्रिय हो गया।" नेताजी सुभाषचन्द्र बोस शहीद भगतसिंह को एक प्रतीक के रूप में मानते थे—"भगतसिंह आज एक व्यक्ति नहीं एक प्रतीक है। उसने विद्रोह चेतना को प्रकट किया है।"

भगतसिंह की जीवनी लेखक मेजर गुरुदेव सिंह दयोल ने उन्हें एक सच्चा क्रान्तिकारी बताते हुए लिखा है—

"भगतसिंह वास्तविक अर्थों में एक क्रान्तिकारी थे। उनका विश्वास था कि उचित गन्तव्य की प्राप्ति के लिए हर प्रकार के साधनों का प्रयोग उचित है। अपने संक्षिप्त राजनीतिक जीवन में उन्होंने कभी भी अपने बारे में चिन्ता न की और न ही अपने-आपको ऐसे अवसरों पर बचाने की कोशिश की, जबकि कर्तव्य इसकी माँग करता था।"

इस प्रकार भगतसिंह के कार्यों का अवलोकन करने पर कहा जा सकता है कि इतनी छोटी अवस्था में भी भगतसिंह [illegible] आदर्शों के [illegible] शिखर पर पहुँच गये थे [illegible]

जिसकी साधारण आदमी अपने जीवन मे कल्पना भी नही कर सकता। भारत राष्ट्र के निर्माण में, उसकी नीव में भगतसिंह का जो योगदान रहा है, उसके लिए यह देश उनका तब तक ऋणी रहेगा, जब तक कि इसका अस्तित्व रहेगा। हमारी संस्कृति मे देवता शब्द का अर्थ देने वाला भी है, भगतसिंह ने भारतराष्ट्र के निर्माण मे अपनी सर्वप्रिय वस्तु; अपना जीवन भी बलिदान कर दिया इस दृष्टि से वह इस देश के लिए देवतुल्य कहे जा सकते हैं। वह त्याग, देशभक्ति तथा बलिदान के प्रतीक बन गये हैं। किसी भी सद्गुण का प्रतीक बन जाना अपने-आपमे अद्वितीय है, इसे मानव जीवन की सार्थकता कहा जा सकता है। यह सर्वोच्च उपलब्धि है। अतः भगतसिंह का मूल्याकन अथवा उनका स्थान निर्धारण कर पाना सम्भव नहीं है। उनकी किसी के साथ तुलना नहीं की जा सकती। अन्त मे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह स्वयं में अपनी उपमा है; भगतसिंह, भगतसिंह के ही समान हैं।

• • •